पंडिता रमाबाई सरस्वती

पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया

राष्ट्रवाद का प्रति-आख्यान

अभय कुमार दुबे

सावित्रीबाई फुले

अब तो उजाड़ ही उजाड़ था! पुरानी तवायफ़ों के बरक्स कई गरीब, दलित औरतें भी कैंटोनमेंट क्षेत्रों में पार्ट-टाइम या फुलटाइम धंधा करने को मजबूर थीं! उस पूरी पट्टी की भाषा और भाव-भंगिमा ही बदलने लगी थी, क्योंकि वहाँ कुछ भी स्थायी नहीं था, सब उठल्लू था— एक चलताऊ-सी, उखड़ी-बिखरी, नीरस-खुरदुरी भाषा विकास पा रही थी। जो सरस बोली-बानी की परम्परा थी, हास-परिहास, गुफ़्तगू और लंतरानियों की चटक, सुर्ख़, चरपरी भाषा : हिंदी-उर्दू— दोनों ही लहरियों से लहालोट, उसके पीछे जाति-मण्डल वाले लाठी लेकर पड़े थे। आर्यसमाज, मारवाड़ी समाज, खत्री हितकारी सभा, जैन गजट, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी तक स्त्री-भाषा की मुक्त लहरियों और गारी-गायन को लेकर इतने चिंतित थे ... ... बड़े मज़ाकिया ढंग से 'भारत-भारती' की ये पंक्तियाँ पढ़ीं काननबाला ने और देर तक हँसती रही!

> *रखती यही गुण वे कि गंदे गीत गाना जानतीं*
> *कुल-शील-लज्जा उस समय कुछ भी नहीं वे मानतीं,*
> *हँसते हुए हम भी अहो! वे गीत सुनते सब कहीं*
> *रोदन करो हे भाइयो, ये बात हँसने की नहीं।*[1]

ताराबाई शिंदे

[1] अनामिका (2008 क), *दस द्वारे का पींजरा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 265.

राष्ट्रवाद और नारीवाद / दो प्रकार की अन्योन्यक्रियाएँ

अगर उपन्यास राष्ट्रवाद के आख्यान का वाहक है, तो उपन्यास का नारीवादी संस्करण उसके प्रति-आख्यान का जनक है। इन पंक्तियों का इशारा राष्ट्रवाद के काउंटर-नैरेटिव की तरफ़ ही है। एक गहरे सांस्कृतिक द्वंद्व से हमारा परिचय कराने वाली ये चुनिंदा लाइनें पिछले दिनों प्रकाशित अनामिका के बृहद नारीवादी उपन्यास ('दस द्वारे का पींजरा' और 'तिनका तिनके पास') से ली गयी हैं। इस द्वि-खण्डीय कृति की विशेषता यह है कि वह उपन्यास की विधा, नारीवाद और राष्ट्रवाद के त्रिकोण पर विचार करने के लिए उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराती है। पहले खण्ड से लिया गया यह उद्धरण एक आईने की तरह है जिसमें उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत के उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद और स्त्री-संसार के बीच चल रही जद्दोजहद का बेचैनी भरा अक्स देखा जा सकता है। पूरा उपन्यास पढ़ने पर पता चलता है कि यह बेचैनी एक-दूसरे को ख़ारिज करने की नहीं है, बल्कि परस्पर विनियोग के प्रतिस्पर्धी प्रयासों का नतीजा है। राष्ट्रवाद की सीमा यह है कि उसके विमर्श के निशाने पर केवल वे मध्यवर्गीय स्त्रियाँ हैं जो घर की चौहद्दी में बंद हैं और जिन्हें गृहिणी या भद्र महिला की श्रेणी में रखा जा सकता है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के ज़रिये इन स्त्रियों के पास देहलीज के बाहर क़दम रखने के मौक़े हैं। लेकिन स्त्री की दुनिया तो केवल इन गृहिणियों तक ही सीमित नहीं हो सकती। उसके दायरे में 'पटरी से उतरी' औरतें भी हैं। ये औरतें कुछ भी हो सकती हैं : वे विधवा हो सकती हैं, रईसों को पसंद आने वाले कोठों की डेरेदार तवायफ़ हो सकती हैं, टके-टके पर ख़ुद को बेचने वाली रंडियाँ हो सकती हैं, अपने भाइयों की पितृसत्तात्मक चमक-दमक के सामने कुम्हला गयी प्रतिभाशाली बहनें हो सकती हैं, अपने से चालीस साल बड़े पति की बालिका-वधू हो सकती हैं, अपने समाज-सुधारक भरतार के संकल्प को पूरा करने के लिए पोथियों में अनिच्छापूर्वक माथा मारने वाली सधवाएँ हो सकती हैं, और एक क्षोभ भरे वैवाहिक जीवन को झेलते हुए सार्वजनिक जीवन में उतर कर उसकी भरपायी करने वाली स्त्रियाँ भी हो सकती हैं। पटरी से उतरी हुई औरतों की इस श्रेणी का दायरा उस समय बहुत बढ़ जाता है जब उसके आगोश में क़रीब चालीस से साठ फीसदी गृहिणियाँ भी ले ली जाती हैं। इसके पीछे तर्क यह है कि परिवार की संस्था गृहिणियों के बचे हुए प्रतिशत को ही अपने परम्परागत वायदे के मुताबिक़ सुख और संतोष प्रदान करने में सक्षम हो पाया है। उपन्यास के दोनों खण्डों में बिखरा हुआ डेढ़ सौ साल का लम्बा दौर पटरी से उतरी हुई ऐसी ही औरतों की दुनिया का दिग्दर्शन कराता है। लगभग हर जगह और हर प्रकरण में पटरी से उतरी हुई ये औरतें किसी न किसी प्रकार भारतीय आधुनिकता के आधे-अधूरे रूपों और राष्ट्रवाद के प्रबल महाआख्यान के साथ अपना आलोचनात्मक तालमेल बैठाने में लगी हैं। उनका अंतिम लक्ष्य है उनका अपना यूटोपिया। पता नहीं वह उन्हें कब मिलेगा, पर उसे हासिल करने की कोशिशों के दौरान वे भारतीय आधुनिकता और राष्ट्रवाद को अपने हिसाब से गढ़ते हुए बदले में इन दोनों युगीन शक्तियों द्वारा स्वयं को गढ़े जाते देख रही हैं।

यह उद्धरण जिस ज़माने की नुमाइंदगी करता है, उसमें भारतीय समाज को आधुनिकीकरण के रास्ते पर चलाने वाली मुहिम का नेतृत्व जाति-सभाओं, धार्मिक सुधार के प्रभावशाली आंदोलनों और राष्ट्रीयता का वाहक बन चुकी आधुनिक हिंदी के जाने-माने प्रवक्ताओं के हाथ में था। उपनिवेशवाद विरोधी परियोजना की कामयाबी के लिए ये सभी स्त्री की सहभागिता की तरफ़ आशा भरी नज़रों से देख रहे थे। एक बौद्धिक इंजीनियरिंग की जा रही थी जिसके तहत एक तरफ़ तो स्त्री को आधुनिक लेकिन 'पश्चिम से भिन्न' और 'ग़ैर-नारीवादी' [2] श्रेणी के रूप में कल्पित किया जा रहा था, और

---

[2] सरोजिनी नायडू ने 1928 में लंदन में एक इंटरव्यू देते हुए भारतीय स्त्रियों के आंदोलन को 'नारीवादी' मानने से इनकार कर दिया था. इसके बाद 1930 में आल इंडिया वुमंस कान्फ्रेंस की सालाना बैठक की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने फिर यही

अनामिका पटरी से उतरी हुई औरतों के मार्फ़त राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक प्रोजेक्ट को व्यंग्य और आलोचना की नज़र से देखती हैं। उनकी उँगलियाँ उस नब्ज़ पर हैं जो सम्भवतः हमारे राष्ट्रवाद का सबसे कमज़ोर पहलू था। ... उसके मूल में स्त्रियों के लिए संदेश था— देखो लज्जा के दर्पण में तुम मुखड़ा / पातिव्रत्य की ओढ़ो चुनरिया, शील का नैनों में कजरा।

दूसरी तरफ़ उसे परम्परा का एक संशोधित संस्करण थमाने का प्रयास जारी था। अपने आधुनिकीकरण के लिए उत्सुक घरेलू स्त्री का स्वागत करने के लिए राष्ट्रवाद तैयार था, पर उस स्त्री के लिए उसके पास एक आचरण संहिता थी। यह स्त्री इसी संहिता के दायरे के भीतर अपना आधुनिकीकरण करने के लिए मजबूर थी। यह संदेश भी स्पष्ट था कि स्त्री का नेतृत्व किसी नायक के हाथ में ही रहेगा। घर के भीतर भी वह अनुयायी थी, देहलीज के बाहर भी उसे अनुयायी के रूप में सक्रिय होना था। यह आत्म-मुक्ति का स्व-निर्धारित रास्ता नहीं, बल्कि पर-निर्देशित सबलीकरण का पथ था। ज़ाहिर है कि नारीवाद और राष्ट्रवाद का यह रिश्ता संकटग्रस्त होने के लिए अभिशप्त था। यह समस्या उस समय और संगीन हो जाती थी जब इस राष्ट्रवाद का एजेंडा घर के दायरे के बाहर कर दी गयी या परिस्थितियोंवश बाहर चली गयी स्त्री के प्रति पूरी तरह से बेपरवाह नज़र आता था। अनामिका अपने विशिष्ट मुहावरे में ऐसी स्त्रियों को 'पटरी से उतरी हुई औरतों' की संज्ञा देती हैं। इन पंक्तियों में दर्ज अनाम औरतें (पुरानी तवायफ़ों से लेकर नयी वेश्याओं तक : फ़ौजी छावनियों के इर्द-गिर्द बसते शहरों में फैल रहा सेक्स का बाज़ार) और 'भारत-भारती' के आह्वान पर हँसने वाला स्त्री-किरदार भी इसी श्रेणी में आता है। अनामिका पटरी से उतरी हुई औरतों के मार्फ़त राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक प्रोजेक्ट को व्यंग्य और आलोचना की नज़र से देखती हैं। उनकी उँगलियाँ उस नब्ज़ पर हैं जो सम्भवतः हमारे राष्ट्रवाद का सबसे कमज़ोर पहलू था। आख़िरकार इसी ज़माने में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से विख्यात माखनलाल चतुर्वेदी और 'महाप्राण' कहे जाने वाले निराला की प्रेरणा से रामनरेश त्रिपाठी द्वारा आदर्श लोकगीतों की पुस्तक 'ग्राम-गीतांजलि' सम्पादित की गयी थी। उसके मूल में स्त्रियों के लिए संदेश था : *देखो लज्जा के दर्पण में तुम मुखड़ा / पातिव्रत्य की ओढ़ो चुनरिया, शील का नैनों में कजरा।*

ध्यान देने की बात यह है कि ऊपर दिये गये मानीख़ेज उद्धरण में उपन्यासकार का अवलोकन भाषा के सवाल को लेकर है। इन राष्ट्रवादी कोशिशों में स्त्री की यौनिकता को नियंत्रित करने वाला प्रचलित नारीवादी तर्क आसानी से पढ़ा जा सकता है। पर अनामिका ने इस तर्क को रेखांकित करने के बजाय कहा है कि परम्पराप्रदत्त 'अश्लीलता' का प्रक्षालन करने के नाम पर राष्ट्रवादी आधुनिकता भाषा को लोक-रस से वंचित करके रुक्ष बनाने पर तुली है। दरअसल, नारीवादी सृजनशीलता के लिए भाषा

दावा दोहराया. लेकिन आंदोलन में सक्रिय महिलाएँ 'फ़ेमिनिस्ट' लकब का इस्तेमाल करती रहीं. विस्तृत संदर्भ के लिए देखें : मृणालिनी सिन्हा (2000), 'रिफ़ेशनिंग मदर इंडिया : फ़ेमिनिज़म एण्ड नैशनलिज़म इन लेट-कोलोनियल इंडिया', *फ़ेमिनिस्ट स्टडीज़,* खण्ड 26, अंक 3, पॉइंट्स ऑफ़ डिपार्चर : इंडिया एण्ड साउथ एशियन डायस्पोरा, हेमंत : 623-644.

का महत्त्व कुछ अलग तरह का है। स्त्रियों को किसी न किसी रूप में हमेशा ही अपने अलग कमरे की तलाश रहती है। भाषा के माध्यम से स्त्रियाँ केवल साहित्य ही नहीं रचतीं, वरन् भाषा द्वारा प्रदत्त कमरे के एकांत में चली जाती हैं। जैसे ही स्त्री भाषा के कमरे में समय बिताना शुरू करती है, वह पाठकों को तो सम्बोधित करने के साथ-साथ मुख्यत: अपने-आपको सम्बोधित करने में तल्लीन हो जाती है। इसीलिए इस अवलोकन में निहित चिंता आम भाषाई चिंताओं जैसी न हो कर एक विशिष्ट नारीवादी सरोकार है। राष्ट्रवादी आधुनिकता भाषा के हलके में परम्परा के जिन तत्त्वों को धो-पोंछ देना चाहती है, उनमें स्त्री के लिए कुछ गुंजाइशें मौजूद थीं। इस प्रेक्षण में एक पेचीदा विमर्श छिपा है जिसके विभिन्न तत्त्वों की अलग-अलग शिनाख़्त करने के लिए ज़रूरी है कि राष्ट्रवाद और नारीवाद के आपसी संबंधों पर एक संक्षिप्त चर्चा कर ली जाए।

नारीवादी चिंतकों ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि एक बार जब राष्ट्र परिवार की तरह ही स्वाभाविक मान लिया जाता है, तो फिर वह बदले में स्त्रियों और बच्चों की अधीनस्थता की बुनियाद पर टिकी परिवार की संस्था के निरंतर वैधीकरण का शक्तिशाली स्रोत बन जाता है। इन्हीं दो मुख्य कारणों से नारीवाद का राष्ट्रवाद के साथ छत्तीस का आँकड़ा बन गया।

पहली अन्योन्यक्रिया : सार्वभौम वैचारिक निष्पत्ति के रूप में राष्ट्रवाद और नारीवाद एक-दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। यूरोप की ज़मीन पर दोनों का इतिहास अलग-अलग परवान चढ़ने का है। स्त्री के अधिकारों की दावेदारी जब शुरू हुई, उस समय तक राष्ट्रवाद के क़दम यूरोप में पूरी तरह से जम चुके थे। उसकी जीत में औरतों की हिस्सेदारी थी, पर उसके बदले औरत को उसका हिस्सा देने के लिए वह कतई तैयार नहीं था। आख़िरकार उसे एक पौरुषपूर्ण प्रॉजेक्ट के रूप में कल्पित किया गया था जिसके तहत पराक्रमी मर्द को 'स्त्री की तरह अरक्षित राष्ट्र' की हिफ़ाज़त करने के लिए अपना सब कुछ होम देना था। नारीवादी चिंतकों ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि राष्ट्र को एक 'स्वाभाविक' निर्मिति के रूप में स्थापित करने के लिए परिवार के रूपक का इस्तेमाल किया गया है। एक बार जब राष्ट्र परिवार की तरह ही स्वाभाविक मान लिया जाता है, तो फिर वह बदले में स्त्रियों और बच्चों की अधीनस्थता की बुनियाद पर टिकी परिवार की संस्था के निरंतर वैधीकरण का शक्तिशाली स्रोत बन जाता है। इन्हीं दो मुख्य कारणों से नारीवाद का राष्ट्रवाद के साथ छत्तीस का आँकड़ा बन गया। पश्चिमी राष्ट्रवाद का परवर्ती विकास जिन परिस्थितियों में हुआ, उसने भी नारीवाद और राष्ट्रवाद के इस रिश्ते को तल्ख़ी प्रदान की। चूँकि नारीवाद के बुनियादी संघर्षों में एक प्रमुख संघर्ष परिवार की संरचना में मूलभूत संशोधन के लिए भी चलाया जाता है, इसलिए उसे राष्ट्रवाद की न केवल आलोचना करनी पड़ी, बल्कि वर्तमान और भविष्य का निर्माण करने वाले औज़ार के रूप में उसे ख़ारिज करने की हद तक जाना पड़ा।[3]

---

[3] जान जिंडी पैटमेन (1998), 'नैशनलिज़म एण्ड आफ़्टर', *रिव्यू ऑफ़ इंटरनैशनल स्टडीज़,* खण्ड 24, द एट्टी इयर्स क्राइसिस 1919-1999 : 149-164.

दूसरी अन्योन्यक्रिया : यूरोपीय राष्ट्रवाद की तरह भारतीय राष्ट्रवाद भी एक पौरुषपूर्ण प्रोजेक्ट है। राष्ट्रवाद के इस संस्करण पर किये गये समाजवैज्ञानिक चिंतन ने दिखाया है कि किस प्रकार इसकी मुख्य प्रवृत्ति स्त्री के प्रश्न को सार्वजनिक धरातल पर हल करने के बजाय परिवार के दायरे में रखने की रही है। उन्नीसवीं सदी में समाज सुधार की राजनीति से लेकर बीसवीं सदी में उपनिवेशवाद से सीधी टक्कर लेने की राजनीति तक राष्ट्रवादी परियोजना पूरी कोशिश करती है कि पुरानी की जगह आधुनिक प्रतीत होने वाली एक नयी पितृसत्ता खड़ी की जाए। लेकिन इस सीमा के बावजूद ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण भारतीय ज़मीन पर नारीवाद और राष्ट्रवाद के बीच यूरोप से अलग क़िस्म की अन्योन्यक्रिया दिखायी पड़ती है। एक ही समय में साथ-साथ पनपने वाले इन दोनों विचारों के बीच एकता और संघर्ष के रिश्ते बने। उपनिवेशवाद गोलबंदी के शिखर पर होने के नाते राष्ट्रवाद तेज़ी से अपना वर्चस्व स्थापित करता चला गया। नारीवाद उसकी मदद लेता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए समाज के भीतर अपनी गुंजाइशें तलाशता रहा। उसका प्रसार और गहराई आधुनिकीकरण की उस प्रक्रिया पर निर्भर था जो मुख्यत: राजनीतिकरण की अगुआई में चलनी शुरू हुई थी। ऐसी बात नहीं कि उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद के वर्चस्व को चुनौती देने वाली ताक़तें मौजूद न रही हों। मद्रास प्रेसीडेंसी में रामस्वामी नायकर पेरियार का आत्मसम्मान आंदोलन गाँधी के नेतृत्व में चल रही मुहिम के साथ नाता तोड़ ही चुका था। महाराष्ट्र में जोतीराव फुले के आदर्शों का अनुगमन कर रही दलित-बहुजन धारा और उनके उत्तराधिकारी भीमराव आम्बेडकर भी इस राष्ट्रवादी धारा के अंग बनने के लिए तैयार नहीं हुए। विनायक दामोदर सावरकर द्वारा प्रतिपादित 'हिंदुत्व' नामक राजनीतिक विचारधारा ने भी आज़ादी के आंदोलन को हाथ भर दूर से ही देखना पसंद किया। लेकिन इतिहास गवाह है कि भारतीय स्त्रियों ने ऐसा न करके एक दोहरी लड़ाई लड़ी। उन्होंने राष्ट्रवाद की उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक दावेदारी में अपना स्वर मिलाना मंजूर किया, क्योंकि उसके माध्यम से उनके लिए एक नया दिगंत खुल रहा था। दूसरी तरफ़ उन्होंने राष्ट्रवाद की मर्दवादी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और जकड़बंदियों को चुनौतियाँ देते हुए राष्ट्रवादी एजेंडे में नारीवादी एजेंसी के ज़रिये पितृसत्ता विरोधी पहलुओं का समावेश करने का यत्न किया। भारतीय नारीवाद की यह रणनीति मोटे तौर पर एशिया और मध्य-पूर्व के अधिकतर देशों में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान विकसित हुए राष्ट्रवाद और नारीवाद के कुछ अलग क़िस्म के रिश्ते के मुताबिक़ ही थी।[4]

इस रणनीति की पहली सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति उस समय दिखायी दी जब भारतीय नारीवादियों और उनके संगठनों (वुमंस इंडियन एसोसिएशन, आल-इंडिया वुमंस कान्फ्रेंस और नैशनल कौंसिल फॉर वुमॅन) ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अपनी सरगर्मियों से राष्ट्रवाद पर दबाव डालने में कमोबेश कामयाबी हासिल की। यह मौक़ा उन्हें नस्लवादी और उपनिवेशवाद समर्थक रुझानों के लिए शोहरतयाफ़्ता अमेरिकी पत्रकार कैथरीन मेयो की कुख्यात पुस्तक *मदर इंडिया* ने दिया। इस पुस्तक का प्रतिकार करने के लिए गाँधी के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को स्त्रियों की विशेष पहलक़दमी की ज़रूरत पड़ी। एक ब्रिटिश खुफिया अधिकारी द्वारा सुझायी गयी विषयवस्तु को केंद्र बना कर मेयो ने 'मदर इंडिया' में यह दिखाने की कोशिश की थी कि जिस देश में स्त्रियों की हालत इतनी ख़राब हो उसकी जनता को स्व-शासन माँगने का कोई अधिकार नहीं है। मेयो की इस पॉलिमिक्स

---

[4] रंजू सियोदू हेर (2003), 'द पॉसिबिलिटी ऑफ़ नैशनलिस्ट फ़ेमिनिज़म', *हायपैतिया,* खण्ड 18, अंक 3 (हेमंत) :135-160 ने राष्ट्रवाद और नारीवाद के विकासशील समाजों के धरातल पर एक राष्ट्रवादी नारीवाद की सम्भावनाएँ तलाशी हैं. भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद और स्त्री के प्रश्न के बीच अन्योन्यक्रिया पर एक बहुचर्चित टिप्पणी के लिए देखें : पार्थ चटर्जी (1999), 'द नैशनलिस्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ़ वुमंस क्वेश्चन', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सम्पा.), *रिकास्टिंग वुमॅन : एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री,* काली फॉर वुमॅन प्रेस, दिल्ली : 233-253.

के ज़रिये अंग्रेज़ राष्ट्रवादियों की उस चुनौती का जवाब भी देना चाहते थे जिसके प्रभाव में भारत का आधुनिकीकरण करने की उनकी दावेदारियाँ लगातार आहत होती जा रही थीं। मेयो के आरोपों में एक हद तक तथ्यात्मक सच्चाई भी थी, पर उन्होंने ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के साथ अंग्रेज़ महाप्रभुओं की साँठगाँठ को पूरी तरह से छिपा लिया था। आज़ादी के आंदोलन के साथ सक्रिय नारीवादी संगठनों ने मेयो के आरोपों पर लीपापोती करने के बजाय इस मौक़े का फ़ायदा उठा कर स्त्री-प्रश्न को पूरी ज़ोरदारी के साथ केंद्रित किया। उन्हीं की कोशिशों से बालिकाओं का विवाह रोकने वाला शारदा एक्ट प्रस्तावित हुआ। मेयो द्वारा किये गये आक्रमण का परिणाम यह निकला कि राष्ट्रवाद के कंज़रवेटिव प्रवक्ताओं को भी हिचक के साथ ही सही, पर शारदा एक्ट का समर्थन करना पड़ा। हालाँकि शारदा एक्ट भी एक सीमित सुधार ही था, पर उसकी राजनीति ने भारतीय नारीवाद द्वारा भविष्य में अपनाये जाने वाले रास्ते की रूपरेखा बना दी। इसके बाद नारीवाद और राष्ट्रवाद के बीच एकता और संघर्ष के रिश्ते बनते चले गये।[5]

भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय नारीवाद के इस संबंध की रोशनी में देखने से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रवाद का प्रति-आख्यान होने के बावजूद अनामिका का उपन्यास भारतीय राष्ट्रवाद के उन पहलुओं की उपेक्षा नहीं करता जो स्त्री-मुक्ति के लिए सकारात्मक थे। उन्नीसवीं सदी से ही आधुनिकीकरण के धरातल पर जिस राष्ट्रवादी नायक की छवि गढ़ी जा रही थी, वह इकहरे क़िस्म के स्त्री-विरोध का शिकार नहीं था। उसकी तस्वीर में राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर और महादेव गोविंद रानाडे द्वारा स्त्रियों को परम्परा की ज़्यादतियों से मुक्त कराने की असाधारण कोशिशों के उदारतावादी रंग भरे हुए थे। अनामिका का उपन्यास इन प्रयासों को हमदर्द निगाह से अपने कथानक में पिरोता है। भारतीय नवजागरण के दोनों प्रमुख मुक़ामों (बंगाल और महाराष्ट्र) की घटनात्मकता चित्रित करते हुए यह उपन्यास एक रंगारंग झलक पेश करता है कि पुरुषों के सुधारवादी और अनुदारतावादी खेमों के बीच स्त्री के प्रश्न को लेकर उस समय कैसा संग्राम चल रहा था। इस संघर्ष में किसी की पूरी जीत या हार नहीं हुई, पर पलड़ा उदारतावादियों का ही भारी रहा। इसीलिए स्त्रियों को उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के मैदान में उतारने का कार्यक्रम पेश करके गाँधी सुधारवादी परम्परा के बेहतरीन उत्तराधिकारी के रूप में उभर सके।

राष्ट्रवाद के इन पहलुओं में भारतीय स्त्री को मुक्ति के रास्ते पर चलाने की प्रेरणाएँ अवश्य मौजूद थीं, लेकिन अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ जीत हासिल कर लेने के बाद उसकी सम्भावित भूमिका के बारे में कुल मिलाकर एक दोहरा रवैया दिख रहा था। आधुनिकीकरण के राजनीतिक वाहकों का काम तो एक सामरिक चुप्पी से चल जाता था। स्त्री-प्रश्न हल करने की जिम्मेदारी वे आज़ाद भारत के राजनीतिक-आर्थिक निज़ाम पर डाल देते थे। लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पहरुए मुखर थे। उनकी दिलचस्पी भविष्य की स्त्री गढ़ने में थी। उन्हें यह कहने में कोई हिचक नहीं थी कि आधुनिक हो या पारम्परिक, अंततः स्त्री के पास पातिव्रत्य के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी जैसे राष्ट्रवादी जब ऐसी बातें बोलते थे, तो उनके पीछे एक ख़ास तरह के इतिहास की ताक़त होती थी। वे उस लीक को आगे बढ़ा रहे थे जिसने बौद्धिक आवेश से थरथराती उन्नीसवीं सदी में ही किसी राष्ट्रवादी नायिका की सम्भावनाओं को ख़त्म करने की हरसंभव कोशिश की थी। नायिका बनने के लिए स्त्री को जिस साहस, उछाल और बहिर्मुखी रवैये की ज़रूरत पड़नी थी, उसकी सम्भावनाएँ भूदेव मुखोपाध्याय जैसे राष्ट्रवादी विद्वानों ने 'लज्जाशीलता' का विमर्श स्थापित करके पहले ही ख़त्म कर दी थीं। इस रोशनी में देखने पर पता चलता है कि सीमित सुधार का कार्यक्रम देने वाले उदारतावादी नायकों के मुक़ाबले स्त्री-मुक्ति की रैडिकल दावेदारी करने

---

[5] मृणालिनी सिन्हा (2000).

जिस समय रमाबाई बंगाल के ब्रह्मसमाजियों और अन्य समाजसुधारकों के हाथों सम्मानित हो कर 'पंडिता' और 'सरस्वती' की उपाधियाँ प्राप्त कर रही थीं, उसके चार-पाँच साल के भीतर ही भूदेव मुखोपाध्याय 'पारिवारिक प्रबंध' और 'लज्जाशीलता' जैसी रचनाएँ प्रकाशित कर रहे थे जिनका मकसद आधुनिक होते हुए भारत में घरेलू जीवन संगठित करने के नये पितृसत्तात्मक मानक स्थापित करना था।

की जुर्रत करने वाली **पंडिता रमाबाई सरस्वती (1858-1922)** को भारतीय स्त्रियों की पहली नायिका मानने से इनकार क्यों किया गया, और फिर राष्ट्रवाद के महाआख्यान के तले उनकी स्मृति तक अँधेरे कोनों में कैसे दफ़्न हो गयी क्या यह एक विचारणीय विरोधाभास नहीं है कि 1878-79 में जिस समय रमाबाई बंगाल के ब्रह्मसमाजियों और अन्य समाजसुधारकों के हाथों सम्मानित हो कर 'पंडिता' और 'सरस्वती' की उपाधियाँ प्राप्त कर रही थीं, उसके चार-पाँच साल के भीतर ही भूदेव मुखोपाध्याय 'पारिवारिक प्रबंध' और 'लज्जाशीलता' जैसी रचनाएँ प्रकाशित कर रहे थे जिनका मक़सद आधुनिक होते हुए भारत में घरेलू जीवन संगठित करने के नये पितृसत्तात्मक मानक स्थापित करना था।

राष्ट्रवाद का प्रति-आख्यान रचने के लिए अनामिका उपन्यास के पहले खण्ड में इसी नायिका का उत्खनन करती हैं। रमाबाई भी पटरी से उतरी हुई स्त्री ही थीं। उन्नीसवीं सदी में महाराष्ट्र के लगभग सभी भव्य और चर्चित स्त्री-व्यक्तित्वों के बीच इस विद्रोही विधवा की हैसियत अनूठी थी। सावित्रीबाई फुले, आनंदीबाई जोशी, रमाबाई रानाडे, पार्वतीबाई आठवले, ताराबाई शिंदे, आनंदीबाई कर्वे और ऐसी ही कई श्लाघनीय स्त्रियों के ऐतिहासिक योगदान के बीच रमाबाई मुख्य तौर से इसलिए अलग थीं कि उन्होंने अपनी सारी प्रतिष्ठा परिवार की संस्था की मदद के बिना ही कमायी थी। वेदों, महाभारत और गीता के बीस हज़ार श्लोकों को कंठस्थ करने वाली, 'वाक्यपदीयम' और 'अष्टाध्यायी' जैसे ग्रंथों की अध्येता, भारत के पहले स्वायत्त नारीवादी संगठन 'आर्य महिला समाज' की नींव डालने वाली और समुद्र पार करने पर लगे प्रतिबंध का उल्लंघन करके सारी दुनिया की यात्राएँ करने वाली रमाबाई के तर्कों से निरुत्तर हो कर 'सुधार की समर्थक' ताक़तों ने उन पर इस तरह हमला किया था :

> 'इंदुप्रकाश' के सम्पादक ने लिखा— रमाबाई के व्यक्तित्व के बाह्य माधुर्य और वाग्तेज ने हममें उम्मीद जगायी थी कि गार्गी-मैत्रेयी परम्परा की कोई आर्या बहुत दिनों बाद फलक पर उभरी, पर यह तो छलना थी ... इनका तो चित्त स्थिर ही नहीं है। आज इन्हें पादरी अच्छे लग रहे हैं, कल उन्हें कोई मुस्लिम काज़ी मिल जाएँगे। ... ... बर्र की तरह बर-बर उड़ती हुई बर्बर अफ़वाहें पंडिता रमाबाई के कानों से भी टकरातीं : 'ये ढंग है विधवा के रहने का? पति गये तो भ्रमण की मुक्ति ही मिली। पहले तो बाल कटे भी हुए थे। अब बढ़ने लगे हैं। बच्ची को झोले में डाला और क्रिस्तानी बन कर ख़ुद सात समुंदर पार चलीं कि दुनिया देखे।'[6]

भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय नारीवाद के बीच इस ख़ास तरह की रिश्तेदारी और उसके बनने की प्रक्रिया समाज-विज्ञान की स्थापित

[6] अनामिका (2008 क): 95.

हिकमतों का इस्तेमाल करके नारीवादी इतिहासकारों द्वारा काफ़ी-कुछ वर्णित की गयी है। लेकिन जो काम समाज-विज्ञान की ज़मीन पर अनुसंधान के ज़रिये सम्भव हो सका, वह राष्ट्रवादी उपन्यास के धरातल पर करना बहुत मुश्किल है। राष्ट्रवादी उपन्यास एक ऐसा साहित्यिक रूप है जो नारीवाद के लिए किसी तरह की आसानी मुहैया नहीं कराता। नारीवादी उपन्यासकार के सामने मुख्यत: तीन तरह की दिक्कतें आती हैं : भाषा के स्तर पर उसकी पहली चुनौती यह है कि वह उसका जेंडरीकरण कैसे करे। स्त्री जैसे ही कवि बनती है, वह भाषा को अपनी मर्जी और ज़रूरतों के हिसाब से गढ़ने की छूट का बेरोकटोक इस्तेमाल करती चली जाती है। कविता की विधा में जो गुंजाइश सहज-स्वाभाविक ढंग से मौजूद है, वह गद्य की दुनिया में नहीं मिलती। वहाँ स्त्री को इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि गल्प की भाषा (जो पहले से ही पौरुषपूर्ण हो चुकी है) को वह किस हद तक अपना बना सकती है? कथांकन के धरातल पर उसकी दूसरी चुनौती यह है कि वह उसे प्रयोजनमूलकता के बने-बनाये साँचे से कैसे निकाले। कथांकन मुख्यत: ज्ञान संगठित करने और उसे पाठक को थमाने की एक ऐसी विधि है जिसे रैखिक प्रगति के तर्ज़ पर नियोजित किया जाता है। उसका प्रयोजन पहले से तय रहता है। उसकी एक शुरुआत होती है, एक मध्य भाग रहता है और वह अनिवार्यत: एक पूर्व-निर्धारित अंत की तरफ़ बढ़ता है। नारीवादी उपन्यासकार के लिए गल्प रचने के दौरान ज्ञान की इस संरचना को संदेह की नज़र से देखना स्वाभाविक ही है। कथांकन की इस पद्धति को ख़ारिज तो नहीं ही किया जा सकता (क्योंकि अंतत: स्त्री को अपनी कहानी भी तो कहनी है), लेकिन उसके ढाँचे का लिंग बदलने के लिए उसे शिल्पगत इंजीनियरिंग की जटिल प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। अंत में तीसरी चुनौती यह है कि राष्ट्रवाद की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विपरीत जा कर नायक के बरक्स एक नायिका की स्थापना कैसे करे। राष्ट्रवादी उपन्यास के केंद्र पर कर्त्ता के रूप में एक नियम के तौर पर पुरुष का क़ब्ज़ा रहा है। यह कर्त्ता स्त्री की भूमिका को या तो उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक के तौर पर देखता है, या फिर स्त्री स्वयं में कर्त्ता के लिए एक प्राप्त करने लायक लक्ष्य बन जाती है। दोनों ही स्थितियों में राष्ट्रवादी उपन्यास स्त्री को एक सक्रिय और आत्मसचेत कर्त्ता की हैसियत नहीं देता। गल्प-साहित्य के संदर्भ में नारीवादी साहित्यिक सिद्धांत इन तीनों चुनौतियों से लगातार जूझता रहा है।[7]

भाषा के स्तर पर उसकी पहली चुनौती यह है कि वह उसका जेंडरीकरण कैसे करे। ... स्त्री को इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि गल्प की भाषा (जो पहले से ही पौरुषपूर्ण हो चुकी है) को वह किस हद तक अपना बना सकती है ? कथांकन के धरातल पर उसकी दूसरी चुनौती यह है कि वह उसे प्रयोजनमूलकता के बने-बनाये साँचे से कैसे निकाले। कथांकन मुख्यत: ज्ञान संगठित करने और उसे पाठक को थमाने की एक ऐसी विधि है जिसे रैखिक प्रगति के तर्ज़ पर नियोजित किया जाता है।

---

[7] नारीवादी साहित्य सिद्धांत पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें : मार्गरेट होमंस (1994), 'फ़ेमिनिस्ट फिक्शंस एण्ड फ़ेमिनिस्ट थियरीज़ ऑफ़ नैरेटिव', *नैरेटिव,* खण्ड 2, अंक 1: 3-16; सूज़न गुबर (1998), 'व्हाट एल्स फ़ेमिनिस्ट क्रिटिसिज़म ?',

हिंदी में स्त्री और उपन्यास के आपसी संबंधों के चार मुख्य पहलू हैं। पहला आयाम स्त्री-पाठकों की लगातार बढ़ती हुई संख्या से बना है जिसके पीछे साक्षरता के निरंतर जारी प्रसार की भूमिका है। दूसरा आयाम स्त्री-विषयक उपन्यासों का है जिनकी मौजूदगी का लम्बा इतिहास है। तीसरा आयाम स्वयं स्त्रियों द्वारा लिखे गये उपन्यासों का है। चौथा आयाम स्त्री द्वारा की गयी उपन्यास-रचना से निकलता है। धीरे-धीरे हिंदी के पास यशस्वी स्त्री साहित्यकारों की एक अनूठी कतार तैयार हो गयी है जिनकी रचनाओं में सायास या अनायास आने वाले नारीवादी विषय-वस्तुओं के तत्त्व देखे जा सकते हैं।[8] हालाँकि कई लेखिकाएँ ख़ुद को नारीवाद की श्रेणी में रखने के ख़िलाफ़ हैं, लेकिन उनकी रचनाओं में भी इस तरह के पहलू देखे जा सकते हैं।[9]

अनामिका के उपन्यास को विश्लेषण के लिए चुनने का एक प्रमुख कारण तो यह है कि उन्हें स्वयं को नारीवाद से जोड़ने में कोई संकोच नहीं है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उनका उपन्यास इतिहास की उस अवधि को स्त्री-प्रश्न की रोशनी में पढ़ने की कोशिश करता है जिसमें हमारे राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक रूपरेखा तैयार की जा रही थी। मूलत: कवि के रूप में स्थापित अनामिका पहले भी एक उपन्यास 'अवांतर कथा' लिख चुकी हैं, लेकिन अपनी इस महत्त्वाकांक्षी रचना में वे ऊपर वर्णित तीनों धरातलों पर अपनी सृजनात्मकता को सचेत रूप से नारीवाद की कसौटियों पर कसती प्रतीत होती हैं। पहला खण्ड 'दस द्वारे का पींजरा' का मुख्य कथानक उन्नीसवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी के शुरुआती हिस्सों तक फैला हुआ है। इसमें पंडिता रमाबाई सरस्वती, उनकी अनुयायी मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) की तवायफ़ ढेलाबाई और भोजपुरी की अपूर्व रामायण के यशस्वी रचयिता महेंदर मिसर की जीवन-कथा दर्ज है। इतिहास के उपेक्षित कोनों से निकाल कर पंडिता रमाबाई को समाज विज्ञान की मुख्य धारा में स्थापित करने का श्रेय नारीवादी इतिहासकारों को जाता है। लेकिन उनके जीवन को किसी ऐतिहासिक उपन्यास का विषय शायद ही कभी बनाया गया हो। 'दस द्वारे का पींजरा' में अनामिका रमाबाई के ज़रिये न केवल उस नारीवादी नायिका की खोज करती हैं जो ज्ञान की एक निश्चित राजनीति के कारण भारतीय आधुनिकता के फलक पर अदृश्य कर दी गयी है। दूसरे खण्ड 'तिनका तिनके पास' के कथानक में रमाबाई और ढेलाबाई की शख़्सियत एक अंतर्धारा के रूप में मौजूद रहती है और उसी से निकले हुए स्त्री पात्र भारत की समकालीन राजनीतिक और सामाजिक आधुनिकता की आलोचना पेश करते चलते हैं। यह आलोचना बताती है कि बदलते हुए भारतीय समाज में जो चीज़ सबसे धीमी रफ़्तार से बदल रही है, वह है घर का दायरा। घरेलू आधुनिकता का विकास सबसे कम हुआ है। पुरुष के साथ स्त्री के संबंधों में परिवर्तन तो हुआ है, पर उसके बावजूद उन रिश्तों पर पितृसत्ता की गहरी छाया शायद थोड़ी ही हल्की हुई है। सार्वजनिक जीवन में स्त्री की

क्रिटिकल इनक्वारी, खण्ड 24, अंक 4, ग्रीष्म : 878-902; कैथरीन आर. स्टिम्पसन (1983), *द मेसाचुसेट्स रिव्यू,* खण्ड 24, अंक 2, वुमॅन : द आर्ट्स 2, ग्रीष्म : 272-288; एलिज़ाबेथ स्तारसेविच (1987), 'रप्चराज़ : एक फ़ेमिनिस्ट नॉवेल', *अनाल्स द ला लितरेत्योरा एस्पानोला कंतेम्पोरेनिया,* खण्ड 12, अंक 1/2, रीडिंग फॉर डिफ़रेंस : फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन वुमॅन नॉवेलिस्ट्स ऑफ़ कंटेम्परेरी स्पेन : 175-789.

[8] जसोधरा बागची (2001), 'जेंडरिंग ऑफ़ द नॉवेल', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 36, अंक 22: 1965-1966; मीनाक्षी मुखर्जी (1984), 'रियलिटी एण्ड रियलिज़म : इंडियन वुमॅन ऐज़ प्रोटेगनिस्ट्स इन फोर नाइंटींथ सेंचुरी नॉवेल्स', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 19, अंक 2 : 76-85.

[9] हिंदी की कई प्रतिष्ठित स्त्री लेखिकाएँ (कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल आदि) अलग-अलग कारणों से ख़ुद को नारीवादी खाने में रखने से परहेज़ करती हैं. लेकिन उनकी रचनाएँ नारीवादी सरोकारों से ओतप्रोत हैं. कई बार तो इन लेखिकाओं ने अपने जीवन में घोषित नारीवादियों के मुक़ाबले अधिक रैडिकल रवैये का परिचय दिया है. नारीवाद की सचेत और अघोषित अभिव्यक्तियों के लिए देखें : अभय कुमार दुबे (2007), 'नारीवाद की हिंदी-कथा : हमारे युग की दो नायिकाएँ', *तद्भव,* 16: 33-53.

उपस्थिति रमाबाई के ज़माने के मुक़ाबले बढ़ी है, पर घर के बाहर निकलते ही उसकी यात्राएँ बेहद जोख़िमग्रस्त हो जाती हैं, कमोबेश उतनी ही जितनी उन्नीसवीं सदी के उन वर्षों में थीं। दोनों खण्डों के लगभग 585 पृष्ठों में अनामिका ने एक नयी भाषा गढ़ने की कोशिश की है और साथ में कथांकन की स्थापित संरचनाओं को भंग करने का उद्यम भी किया है। पहले से लेकर आख़िरी पन्ने तक वे इस प्रयोगधर्मिता का पल्ला कभी नहीं छोड़तीं।

II

नारीवादी नायिका का उत्खनन / अकादमीय और औपन्यासिक / केंद्रच्युत होता राष्ट्रवाद

प्रति-आख्यान अपना सृजन आख्यान को ख़ारिज करके नहीं, बल्कि उसकी गहन आलोचना की प्रक्रिया में करता है। राष्ट्रवाद का स्वाभाविक नायक अगर पुरुष है, तो उसके नारीवादी प्रति-आख्यान के केंद्र में किसी न किसी नायिका का होना लाज़मी है। अनामिका यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी पंडिता रमाबाई को सौंपती हैं। हालाँकि मराठी में रमाबाई के बारे में साहित्य उल्लेखनीय मात्रा में उपलब्ध रहा है, पर भारत के अंग्रेज़ी प्रधान अकादमीय हलकों में रमाबाई का ज़िक्र अस्सी के दशक से पहले न के बराबर ही होता था। राष्ट्रवादी कल्पनाशीलता तो छोड़ ही दीजिए, अस्सी से पहले की नारीवादी कल्पनाशीलता के रडार पर भी उनकी शख़्सियत दर्ज नहीं थी। विद्वानों का ध्यान रमाबाई की तरफ़ सम्भवत: पहली बार उस समय गया जब 1980 में मधु किश्वर द्वारा सम्पादित 'मानुषी' ने उनके ऊपर एक लम्बा आलेख प्रकाशित किया। इसी दशक के उत्तरार्ध में कई बेहतरीन अकादमीय आलेखों के माध्यम से मीरा कोसाम्बी ने रमाबाई के विलक्षण जीवन और योगदान पर विशद प्रकाश डाला। दरअसल बौद्धिक जगत में रमाबाई की अखिल भारतीय स्थापना का श्रेय मीरा कोसाम्बी को ही मिलना चाहिए। रमाबाई के अकादमीय उत्खनन की यह प्रक्रिया नब्बे के दशक के आख़िरी वर्षों में अपने शिखर पर पहुँची जब उमा चक्रवर्ती ने उन्हें केंद्र बना कर 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का सूत्रीकरण करते हुए एक महत्त्वाकांक्षी अध्ययन प्रकाशित किया। इस रचना को नारीवादी ही नहीं, बल्कि ग़ैर-नारीवादी क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर सराहना मिली।[10]

अकादमीय उत्खनन : इन कृतियों में दर्ज रमाबाई के जीवन और उपलब्धियों की तथ्यात्मक रूपरेखा पर सरसरी नज़र डालने से ही पता चल जाता है कि विद्वत्ता, दुखों से टकराने वाली प्रबल जिजीविषा, संगठन-शक्ति, विपरीत परिस्थितियों से लोहा लेने की क्षमता और रैडिकल फैसले ले कर उन पर अमल करने के मामले में उनका कोई सानी नहीं था। इससे यह भी पता चलता है कि आधुनिक भारतीय इतिहास की इस महान नायिका को ज्ञान और राष्ट्रवाद की मिली-जुली राजनीति द्वारा किस कदर उपेक्षा का शिकार बनाया गया है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सक्रिय रही रमाबाई का जीवन बीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों की किसी नारीवादी महिला नेता जैसा ही लगता है। बचपन से ही उन्हें लड़कों की तरह ही शिक्षा मिली, हालात ने उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने लायक बनाया, स्वतंत्र चिंतन करने और उसके आधार पर फ़ैसले लेने की क्षमता विकसित हुई, अपनी भाषा और जाति के बाहर के व्यक्ति से उन्होंने अपनी मर्ज़ी से शादी की और विदेश यात्राएँ (इंग्लैंड, अमेरिका और जापान) कीं। परम्परागत समाज उन पर अपना कोप बरसाता रहा। पर रमाबाई ने कभी अपने स्त्री होने की थोपी

[10] मीरा कोसाम्बी (1988), 'वुमॅन, इमेंसिपेशन एण्ड ईक्वलिटी : पंडिता रमाबाईज़ कंट्रीब्यूशन टु वुमंस कॉज़', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 23, अंक 44, 29 अक्टूबर : 38-49; उमा चक्रवर्ती (1998), *रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ़ एण्ड टाइम्स ऑफ़ पंडिता रमाबाई,* काली फॉर वुमॅन प्रेस, नयी दिल्ली.

गयी सीमाओं को अपनी गतिविधियों के आड़े नहीं आने दिया। रमाबाई ने भरापूरा सार्वजनिक जीवन जिया, सभाओं और जलसों में भाषण दिये, बड़े-बड़े संगठन चलाये और हर तरह की त्रासदियों व व्यस्तताओं के बीच लेखन कार्य ज़ारी रखा।

पंडिता रमाबाई का जन्म 1858 में कर्नाटक के चितपावन ब्राह्मण अनंतशास्त्री डोंगरे के घर में हुआ था। एक बार डोंगरे को अपने गुरु के साथ पुणे स्थित पेशवा के महल में जाने का मौक़ा मिला। वहाँ पेशवा की पत्नी को संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण करते हुए सुन कर वे इतने प्रभावित हुए कि अपनी पत्नी को संस्कृत सिखाने का संकल्प कर बैठे। लेकिन न तो उनके परम्परानिष्ठ परिवार ने और न ही उनकी पत्नी ने उनका साथ दिया। पत्नी की मृत्यु के बाद तीर्थ यात्रा के दौरान उनका परिचय एक ब्राह्मण परिवार से हुआ। यह ब्राह्मण अनंतशास्त्री की विद्वत्ता से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी नौ साल की बेटी का विवाह चवालीस साल के विधुर से करने के लिए तैयार हो गया। इसके बाद अनंतशास्त्री अपनी बालिका-वधु लक्ष्मीबाई के साथ कर्नाटक के ही गंगामुल जंगल में अध्ययन-मनन का तपस्वी जीवन गुज़ारने लगे। अपने संकल्प के मुताबिक़ उन्होंने लक्ष्मीबाई को संस्कृत सिखायी जिसकी ज़बरदस्त सामाजिक प्रतिक्रिया हुई। कट्टरपंथियों ने उन्हें आड़े हाथों लेना शुरू किया। कदम पीछे हटाने के बजाय अनंतशास्त्री ने स्त्रियों को संस्कृत सिखाने पर लगे प्रतिबंध के ख़िलाफ़ दलीलें देने के लिए शास्त्रों का ही सहारा लिया और शास्त्रज्ञों की एक सभा में हुए वाद-विवाद में लगभग तीन सौ अकाट्य दृष्टांत पेश किये। इस प्रकरण के बाद एक हद तक उनकी धाक जम गयी और फिर उनके जीवन के कुछ वर्ष शांतिपूर्वक बीते। वे वेदों और शास्त्रों की शिक्षा देने वाला एक आश्रम चलाते रहे। साथ में थोड़ी सी खेती भी थी जिसकी देखभाल उनका परिवार करता था। लक्ष्मीबाई ने उन्हें छह संतानें दीं जिनमें तीन की अकाल मृत्यु हो गयी। बचे हुए एक भाई और दो बहिनों में रमाबाई सबसे छोटी, मेधावी और विलक्षण स्मृति से सम्पन्न थीं। अनंतशास्त्री ने अपने तीनों बच्चों को संस्कृत पढ़ाने और शास्त्रों की शिक्षा देने में कोई कोताही नहीं की।

रमाबाई जब बालिका ही थीं, उनके पिता ने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की तीर्थ यात्राओं का सिलसिला शुरू कर दिया। वे जगह-जगह पुराणों का पाठ करते और बदले में जो भी थोड़ी-बहुत दक्षिणा मिलती, उसी से काम चला कर आगे की यात्रा पर निकल जाते। इस तरह का कष्टसाध्य दरिद्र जीवन कई वर्ष तक चलता रहा। अचानक 1876 में दर्दैव ने आक्रमण किया और रमाबाई के पिता, माँ और बड़ी बहिन का एक के बाद एक देहांत हो गया। वे अपने भाई श्रीनिवास के साथ सारी तकलीफ़ें झेलते हुए अगले दो सालों तक पिता की विरासत आगे बढ़ाती रहीं। रमाबाई पुराण वाचन करतीं, दक्षिणा पातीं, पूरे नियमों के साथ सभी तरह की धर्मविधियाँ सम्पन्न करतीं। 1878 में इसी तरह यात्रा करते-करते भाई-बहिन कलकत्ता पहुँचे जो उन्नीसवीं सदी के उस दौर से गुज़र रहा था जिसे बंगाल का नवजागरण कहा जाता है। ब्रह्म समाज के नेताओं और अन्य प्रतिष्ठित समाज सुधारकों ने चमत्कृत आँखों से इस युवा विदुषी को देखा और हाथों-हाथ लिया। रमाबाई ने सार्वजनिक व्याख्यान देने शुरू किये। वे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से उद्धरण ले कर स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को सम्बोधित करने लगीं। यह प्रक्रिया उस समय अपने शिखर पर पहुँची जब एक सार्वजनिक समारोह में कलकत्ता के भद्र समाज ने रमाबाई को 'पंडिता' और 'सरस्वती' की उपाधियाँ दीं।

लेकिन, त्रासदी ने रमाबाई का साथ यहाँ भी नहीं छोड़ा। अचानक उनके भाई भी चल बसे। इसके बाद उन्होंने पिता के आश्रम में शिक्षा लेने वाले अपने बचपन के मित्र विपिन बिहारी दास मेधावी से विवाह किया। एक बंगाली शूद्र परिवार में जन्मे मेधावी उस समय तक वकील बन चुके थे। दो साल के सुखी दाम्पत्य के बाद मेधावी अपने पीछे केवल बाईस वर्ष की रमाबाई और एक बालिका शिशु को छोड़ कर हमेशा के लिए चले गये। जीवन के इस मुक़ाम पर रमाबाई को महाराष्ट्र से विशेष

आमंत्रण मिला और वे जस्टिस रानाडे और उनकी पत्नी रमाबाई रानाडे के बुलावे पर पुणे पहुँचीं। महाराष्ट्र में पहले से काम कर रहे स्त्री संगठनों की गतिविधियों को आधार बना कर रमाबाई ने आर्य महिला समाज की स्थापना की जिसकी शाखाएँ महाराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में फैलती चली गयीं। बंगाल के ब्रह्म समाज की तर्ज़ पर कार्यरत महाराष्ट्र के प्रार्थना समाज के साथ रमाबाई ने निकट-सहयोग का रिश्ता बनाया। इसी दौरान उन्हें शिक्षा संबंधी हंटर कमीशन के सामने गवाही देने के लिए बुलाया गया। आयोग के सामने रमाबाई ने औरतों को डॉक्टरी की शिक्षा देने का कार्यक्रम अपनाने पर ज़ोर दिया ताकि बीमार स्त्रियों के उपचार की गारंटी हो सके। इस वक्तव्य के बाद रमाबाई ने ख़ुद चिकित्सक बनने की ठानी और इंग्लैंड जाने की योजना बना कर अंग्रेज़ी सीखने लगीं। इसी दौरान उनका सम्पर्क *सिस्टर्स ऑफ़ द कम्युनिटी ऑफ़ सेंट मैरी द वर्जिन* से हुआ। इंग्लैंड में वे इसी संस्था के कॉन्वेंट में रहीं और महाराष्ट्र भेजी जाने वाली सिस्टर्स को बदले में मराठी पढ़ाती रहीं। अपनी यात्रा के लिए खर्च जुटाने हेतु रमाबाई ने 'स्त्री धर्म नीति' नामक पुस्तक लिखी।

इंग्लैंड में रमाबाई को पता चला कि उनकी श्रवण-शक्ति कमज़ोर होती जा रही है। इसके बावजूद उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों, गणित और अंग्रेज़ी का अध्ययन करने के लिए चेंल्तनहेम वुमंस कॉलेज में दाख़िला लिया। वहाँ वे छात्र-अध्यापक के रूप में संस्कृत भी पढ़ाती थीं। उनकी पढ़ाई का खर्चा सिस्टर्स के संगठन ने उठाया। इंग्लैंड पहुँचने के कुछ दिन बाद ही रमाबाई ने अपनी दो साल की बेटी के साथ ईसाई धर्म अपना लिया। उन्होंने दलील दी कि हिंदू धर्म स्त्रियों और शूद्रों को कमतर हैसियत में रखता है, 'गिरी' हुई स्त्रियों के लिए उसके पास क्षमा और पुनर्वास के प्रावधान के बजाय कठोर दण्ड की व्यवस्था है। इसके उलट ईसाई धर्म प्रेम, क्षमा और मानव-मात्र की बराबरी में यकीन करता है। इंग्लैंड में चार साल तक पढ़ने के बाद रमाबाई अमेरिका गयीं और अपनी दूर की रिश्तेदार आनंदीबाई जोशी के स्नातक-समारोह में भाग लिया। रमाबाई ने पूरे अमेरिका की यात्राएँ कीं और भारत में ऊँची जाति की विधवाओं के लिए आश्रम खोलने की अपनी योजना का प्रचार किया। इसका नतीजा रमाबाई एसोसिएशन ऑफ़ बोस्टन के गठन में निकला जिसने अगले दस वर्षों तक रमाबाई की गतिविधियों के लिए धन जुटाने का भरोसा दिया।

रमाबाई की बेटी मनोरमा पहले ही इंग्लैंड से भारत लौट चुकी थी। अमेरिका से वापसी के बाद उन्होंने बंबई को अपना केंद्र बनाया और चौपाटी पर विधवा आश्रम शारदा सदन की स्थापना की। जस्टिस रानाडे और रामचंद्र भंडारकर जैसे प्रमुख समाज सुधारक इस संस्था के ट्रस्टी थे। 1891 में शारदा सदन आर्थिक कारणों से पुणे चला गया जहाँ उसे ब्राह्मण विधवाओं के बीच काम करने का ज़्यादा मौक़ा मिला। यहीं शारदा सदन में प्रवेश करने वाली पहली ब्राह्मण विधवा गोदूबाई नाटु का डी.के. कर्वे के साथ दोबारा विवाह हुआ जिसमें रमाबाई ने वधू की माँ की भूमिका निभायी। शारदा सदन की गतिविधियाँ उस समय विवादग्रस्त हो गयीं जब तिलक के अख़बार 'केसरी' ने उस पर धर्मांतरण की कोशिशें करने का आरोप लगाया। सदन के ट्रस्टियों ने इस्तीफ़ा दे दिया और कई अभिभावकों ने अपने घर की स्त्रियों को वापिस बुला लिया। रमाबाई एसोसिएशन ने इन आरोपों की जाँच करायी और उन्हें आधारहीन पाया। लेकिन, इस विवाद के कारण हिंदू समाज सुधारकों के साथ बिगड़ चुके उनके संबंध फिर कभी पहले जैसे नहीं हो सके। इस प्रकरण के तुरंत बाद रमाबाई मध्य प्रांत और गुजरात के अकाल पीड़ितों की सेवा में जुट गयीं। 1896 में उन्होंने केड़गाँव में मुक्ति सदन खोला और फिर शारदा सदन भी वहीं आ गया। रमाबाई ने दस साल तक धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाने के बाद अंत में अपनी संस्था को खुले रूप से ईसाई घोषित कर दिया। वहाँ एक चर्च खोला गया और मिशनरी गतिविधियाँ भी चलायी जाने लगीं। इसी दौरान रमाबाई ने भेस बदल कर उत्तर भारत की यात्रा भी की और वृंदावन की शोषित-उत्पीड़ित विधवाओं को बचाने की कोशिश की। इस

काम में उन्हें बेहद मामूली सफलता ही मिल सकी। केड़गाँव को केंद्र बनाने के बाद रमाबाई का ज़ोर ऊँची जाति की विधवाओं पर न रह कर निचली जाति के अकाल पीड़ितों के पुनर्वास पर होता चला गया। महाराष्ट्रियन समाज से कटते चले जाने के कारण उनके जीवन का आख़िरी दौर एक तरह के एकांतवास में बीता। लेकिन यह एकांतवास भी अहर्निश गतिविधियों से परिपूर्ण था। उन्होंने शिक्षा संस्थाएँ और व्यावसायिक प्रशिक्षण देने के केंद्रों की स्थापना की। हिब्रू और यूनानी मूल की बाइबिल का मराठी अनुवाद भी किया। 1919 में उन्हें कैसरे-ए-हिंद स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। 1921 में पुत्री मनोरमा का देहांत हुआ और अगले ही वर्ष रमाबाई ने भी देह छोड़ दी।

रमाबाई की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'उच्च वर्ण की हिंदू औरतें' 1888 में प्रकाशित हुई। उनके जीवन और कृतित्व का मुख्य संदेश स्त्रियों को शिक्षा और व्यावसायिक कुशलता के माध्यम से आत्मनिर्भरता के आग्रह पर टिका था। उनकी मान्यता थी कि चाहे जीवनयापन हो या भावनात्मक सहारे का सवाल हो, स्त्रियों को किसी पर निर्भर नहीं होना चाहिए। परिवार की संस्था के बारे में उनकी राय थी कि उसके दायरे में स्त्री को स्वतंत्रता और सुख मिल ही नहीं सकता। वे स्त्रियों की सभा में पुराण वाचन करतीं, फिर धर्म और आचरण पर उनका व्याख्यान होता। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि ईसाई हो जाने के बाद भी रमाबाई ने पुराण वाचन को माध्यम बना कर चेतना के स्तर पर स्त्रियों के उत्थान का कार्यक्रम लगातार जारी रखा। रमाबाई के कार्यक्रमों में पुरुषों को आने की इजाज़त थी, पर उन्हें अपने घर की स्त्रियों के साथ आना पड़ता था। शारदा सदन की सभाओं में काशीबाई कानिटकर और रमाबाई रानाडे जैसी स्त्रियों के व्याख्यान भी होते थे। रमाबाई चाहती थीं कि स्त्रियाँ राजनीति में भी भागीदारी करें। इस मामले में वे अपनी समकालीन विभूतियों से आगे थीं। 1889 में बंबई में हुए दूसरे कांग्रेस अधिवेशन में रमाबाई के ही प्रयासों से सात-आठ महिला प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था, बावजूद इसके कि रानाडे समेत दूसरे समाज सुधारक और राजनेता स्त्रियों को प्रतिनिधि बनाने के पक्ष में नहीं थे।

रमाबाई के जीवन का सबसे ज़्यादा विवादास्पद प्रकरण उनका धर्मांतरण रहा जिसके कारण उन्हें कई बार लोकापवाद झेलना पड़ा। लेकिन उन्होंने न केवल ईसाइयत के सांस्थानिक दबाव के सामने झुकने से इनकार किया, बल्कि दाब-धौंस व लोभ-लालच के तहत धर्मांतरण कराने के रवैये का भी विरोध किया। अपनी बेटी मनोरमा को इंग्लैंड में विदेशी ईसाइयों के बीच पालने के वे ख़िलाफ़ थीं। वे मनोरमा को दी जाने वाली ईसाई शिक्षा को भी आलोचना की दृष्टि से देखती थीं। इसलिए अमेरिका जाने से पहले उन्होंने अपनी गॉड मदर सिस्टर ज़ेरल्डाइन के विरोध के बावजूद मनोरमा को भारत भेज दिया था। ज़ेरल्डाइन का कहना था कि रमाबाई अपनी सरगर्मियों के कारण मनोरमा के लालन-पालन पर ध्यान नहीं दे पाएँगी। लेकिन रमाबाई ने अपने सार्वजनिक जीवन और मातृत्व की दोहरी जिम्मेदारियों को बख़ूबी निभाया। मनोरमा एक ख़ुशमिज़ाज और योग्य युवती के रूप में बड़ी हुई। उसने अपनी माँ के कामकाज में हमेशा सकारात्मक योगदान किया।[11]

औपन्यासिक उत्खनन : अनामिका अगर चाहतीं तो इतिहासकारों द्वारा खोज निकाले गये इन तथ्यों के आधार पर आसानी से एक जीवनी-परक उपन्यास लिख सकती थीं जिसकी अहमियत किसी भी तरह से कम नहीं होती। लेकिन, उन्होंने अधिक कल्पनाशील और सृजनात्मक रास्ता अपनाया। न केवल उन्होंने जीवन-संघर्षों में उलझे और अपने जीवट के दम पर उनसे परे जाने वाले रमाबाई नामक हाड़-मांस के जीवंत किरदार की रचना की, बल्कि उसे तत्कालीन राष्ट्रवादी राजनीति और

[11] रमाबाई के जीवन की यह संक्षिप्त रूपरेखा मीरा कोसाम्बी की उपरोक्त रचना के आधार पर.

समाज सुधार की मुहिमों के बीच स्थित करके एक नये विमर्श की प्रस्तावना की। इस प्रक्रिया में वे एक विचारणीय बौद्धिक कारीगरी करने में कामयाब रहीं। उनका औपन्यासिक वृत्तांत भले ही इतिहास के ज्ञात वस्तुनिष्ठ तथ्यों की कसौटी पर न खरा उतर सके, पर उसके भीतर उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक और उदारतावादी प्रक्रियाओं के समांतर चल रही धाराओं और तत्कालीन नारीवादी प्रवृत्तियों के बीच अन्योन्यक्रिया के सम्भावनापूर्ण सुरागों की शिनाख़्त की जा सकती है।

'दस द्वारे का पींजरा' रमाबाई की विकास-यात्रा के पहले पड़ाव के रूप में उनके बचपन, शिक्षा-दीक्षा और लालन-पालन पर गहरी और विस्तृत दृष्टि डालता है। उपन्यास का यह भाग कल्पना और यथार्थ के मेल से रमाबाई के शुरुआती जीवन के इतने बारीक विवरण उपलब्ध कराता है कि उसके आधार पर किसी फ़िल्म की पटकथा तक लिखी जा सकती है। नाटकीयता और मार्मिकता के संयोग का यह उदाहरण द्रष्टव्य है :

> एक ही साड़ी थी रमाबाई के पास! आँचल की तरफ़ से आधी धो देती माँ और एकांत में उसको देर तक बिठा कर पहने-पहने ही सुखाती। जब वह हिस्सा सूख जाता तो उस तरफ़ से साड़ी बाँध कर दूसरी ओर की साड़ी धो देती और कहती— ये भी सूखेगा तो उठना। जब तक साड़ी के दो हिस्से अलग-अलग छोर से सूखते, 'नारी सुबोधिनी' का पाठ चलता ही जाता। लगातार माँ यह समझाये जाती कि विदुषी होने का अर्थ निरंकुश होना नहीं है। जैसे ब्राह्मणों पर खान-पान-यम-नियम के प्रतिबंध शूद्रों से ज़्यादा लागू होते हैं, उसी तरह विदुषी स्त्रियों को भी और स्त्रियों से ज़्यादा ही शीलवती हो कर दिखा देना चाहिए ताकि लोगों का मुँह बंद रहे। अच्छा होना ही पर्याप्त नहीं होता, अच्छा दीखना भी पड़ता है।
>
> इस अंतिम बात से रमाबाई के मन में खुंदक मच जाती। 'क्यों भाई, क्यों चाहिए दुनिया से प्रमाण-पत्र? सत्य अपना प्रमाण ख़ुद है!' ... ... रात में रमाबाई की नींद टूटती तो वह देखती कि माँ जाग कर पहरा दे रही है। देख कर मोह होता, हँसी भी आती ... ... 'माँ वैसे तो तुम रात-दिन देवता मनाती हो, पर उनकी रक्षावाहिनी पर तुमको भरोसा नहीं है। मुझको श्रीविद्या कहती हो, पर मेरे तेज पर भी पूरा विश्वास नहीं करतीं।' ... ... रमाबाई मन ही मन यह सोच कर हँसती कि माँ तो सिर्फ़ नाम की लक्ष्मीबाई ही हैं। एक वहाँ झाँसी में लक्ष्मीबाई जो हुई हैं— उनसे माँ मिलतीं तो उनके जीवन में भी स्त्री-सुलभ भय के कुछ सूत्र ढूँढ़ ही निकालतीं। देह क्या सचमुच ही औरतों की गरदन में लटका हुआ ढोल है? मार-पीट, सती-दहन और बलात्कार झेलती हुई स्त्री कब पूर्ण व्यक्ति की तरह नि:शंक रह सकेगी?[12]

उपन्यास के इस हिस्से में अनामिका ने उन शास्त्रार्थों का लम्बा वर्णन किया है जो अनंतशास्त्री ने रूढ़िवादी पंडितों से किये थे। उन्होंने दिखाया है कि पिता अपनी छोटी सी बेटी को भी शास्त्रज्ञों के वाक्य बाणों के सामने छोड़ने में संकोच नहीं करते थे। इस उपन्यास की हिंदी में कई समीक्षाएँ हुई हैं। कुछ समीक्षकों की मान्यता है कि उपन्यास का यह हिस्सा कथारस में विघ्न डालता है। समीक्षकगण शास्त्रों, पुराणों और धर्मविधियों की प्रतियोगी व्याख्याओं से भरे हुए संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लम्बे-लम्बे संवादों से चौंकते हैं।[13] अगर उनकी आपत्ति मूलत: कथांकन के ढाँचे को ले कर है, तो उन्हें जाँच करनी चाहिए कि कहीं यह नारीवादी उपन्यासकार नैरेटिव की पारम्परिक संरचना के साथ छेड़छाड़ करने के चक्कर में तो नहीं है। उपन्यास के शिल्प के बारे में की गयी इस आपत्ति पर इस लेख के अगले हिस्से में चर्चा की जाएगी। दूसरे, अगर यह आपत्ति सिर्फ कथारस को लेकर नहीं है तो समीक्षकों को देखना चाहिए कि इन शास्त्रार्थों के बिना रमाबाई 'पंडिता' और 'सरस्वती' नहीं बन

---

[12] अनामिका (2008 क): 46-47.

[13] परमानंद श्रीवास्तव (जुलाई, 2008): 'स्मृति, इतिहास और आख्यान', *तद्भव,* 18 : 259-262.

ऊँची जाति की विधवाओं के रैडिकल पुनर्वास पर केंद्रित रमाबाई का प्रोजेक्ट कई तरह से फुले और सावित्रीबाई के प्रोजेक्ट से मेल खाता था। उमा चक्रवर्ती की रचना की समीक्षा करते हुए गेल ऑम्बेड्ट बताती हैं कि फुले ने रमाबाई द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण किये जाने के पक्ष में जोरदारी से लिखा था, बावजूद इसके कि स्वयं फुले अपनी तरफ से दलित-बहुजन परम्परा का वैकल्पिक विचार और ढाँचा तैयार कर रहे थे।

सकती थीं। धर्म की रूढ़िमुक्त व्याख्याएँ करने की अपनी क्षमता के दम पर ही वे ईसाई हो जाने के बावजूद स्त्रियों की सभा में पुराण वाचन को उनकी शिक्षा का माध्यम बनाती रहीं। इसी हिस्से में दर्ज एक सतीदाह की घटना में बालिका रमाबाई के विद्रोही हस्तक्षेप का एक नाटकीय प्रकरण भी है जिसके साथ उपन्यासकार ने कुशलता के साथ उनके जीवन का एकमात्र प्रेम प्रसंग भी जोड़ दिया है : रमाबाई और सदाव्रत का। सदाव्रत, जो छोटी जाति का होने के बावजूद उनके पिता के आश्रम में शिक्षा प्राप्त कर रहा है। रमाबाई बाद में इसी सदाव्रत से शादी करती हैं। समाजवैज्ञानिक साहित्य में यही सदाव्रत विपिन बिहारी मेधावी के नाम से दर्ज है। अनामिका ने रमाबाई के भाई श्रीनिवास का नाम भी बदल कर श्रीधर कर दिया है।

उपन्यास ने ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कई छूटें ली हैं। मसलन, लक्ष्मीबाई और अनंतशास्त्री के विवाह-प्रसंग को यथार्थ के विपरीत इस तरह चित्रित किया गया है कि जैसे दोनों के बीच कभी प्रेम रहा हो जिसका परिणाम कालांतर में अनंतशास्त्री की पहलकदमी पर विवाह में निकला। दरअसल, जिस फटाफट अंदाज़ में लक्ष्मीबाई के पिता अपनी नौ साल की बेटी का हाथ प्रौढ़ हो रहे अनंतशास्त्री के हाथ में थमा कर आगे की तीर्थ यात्रा पर निकल गये थे, उसकी आलोचना स्वयं रमाबाई ने भी आगे जा कर की। लेकिन उपन्यासकार की कल्पना को इस तरह की उड़ानें भरने से रोकना थोड़ा मुश्किल है, क्योंकि इसी कल्पना के दम पर यह उपन्यास ऐतिहासिक चरित्रों के निजी जीवन के कई ऐसे प्रसंगों को भी कल्पित कर डालता है जिनके तथ्यगत प्रमाण उपलब्ध हो ही नहीं सकते।

रमाबाई जिस समय कलकत्ते में ब्रह्म समाज और उसके नेता केशव चंद्र सेन के सम्पर्क में आयीं, उस समय उनकी आयु बीस साल की थी। वे अविवाहित थीं, और सम्भवत: अपने होने वाले पति के विदेश से लौटने की प्रतीक्षा कर रही थीं। एक सुदर्शन और लीक से हट कर सोचने वाली प्रगल्भ विदुषी के रूप में वे तेजी से गण्यमान्य होती चली जा रही थीं। इसी तरह जब पति की मृत्यु के बाद पुणे में रानाडे दम्पत्ति की मदद से उन्होंने अपना काम शुरू किया तो उनकी आयु बाईस-तेईस वर्ष की रही होगी। रमाबाई का इन दोनों महापुरुषों के घर में रोज़ाना का आना-जाना था। केशव चंद्र सेन, उनकी पत्नी, रानाडे, उनकी बहिन और पत्नी के किरदारों के साथ रमाबाई की आत्मीय और अंतरंग अन्योन्यक्रिया का चित्रण जिस बारीक पच्चीकारी की माँग करता है, वह समाज-विज्ञान के औज़ारों द्वारा सम्भव ही नहीं है। समाज सुधार के आंदोलन से जुड़ी ये स्त्रियाँ रमाबाई की सामाजिक परियोजना में सहयोग तो कर रही थीं, पर उनकी अपने परिवार के भीतर मौजूदगी और पति के साथ नियमित मेल-मिलाप के प्रति सहज होना इन स्त्रियों के लिए मुश्किल था। यह असहजता कभी-कभी शक की सीमा तक भी जाती थी। अनामिका ने रानाडे और उनकी बहिन के चरित्रों के ज़रिये यह भी दिखाया है कि

किस तरह घरों में पुरुष को मिलने वाली प्राथमिकता के कारण भाई से अधिक प्रतिभाशाली बहिनें ख़ुद अपनी आँखों से अपनी बौद्धिक सम्भावनाओं को कुम्हलाते देखती हैं।

रमाबाई का यह औपन्यासिक उत्खनन उस समय राष्ट्रवादी राजनीति में कल्पनाप्रणव हस्तक्षेप करके एक समांतर आख्यान रच डालता है जब अनामिका रमाबाई और उनके पति को महात्मा फुले और उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले द्वारा चलायी जा रही मुहिमों के साथ सक्रिय दिखाती हैं। उपन्यास सूचना देता है कि फुले द्वारा हंटर कमीशन को लिखी गयी चिट्ठी का मसविदा सदाव्रत द्वारा तैयार किया गया था। ऊँची जाति की विधवाओं के रैडिकल पुनर्वास पर केंद्रित रमाबाई का प्रोजेक्ट कई तरह से फुले और सावित्रीबाई के प्रोजेक्ट से मेल खाता था। उमा चक्रवर्ती की रचना की समीक्षा करते हुए *गेल ऑम्बेड्ट* बताती हैं कि फुले ने रमाबाई द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण किये जाने के पक्ष में ज़ोरदारी से लिखा था, बावजूद इसके कि स्वयं फुले अपनी तरफ़ से दलित-बहुजन परम्परा का वैकल्पिक विचार और ढाँचा तैयार कर रहे थे। ऑम्बेड्ट की मान्यता है कि रमाबाई का सम्पर्क फुले प्रदत्त विकल्प से बहुत सीमित क़िस्म का था।[14] लेकिन, औपन्यासिक उत्खनन इस क्षीण सम्पर्क को रमाबाई के जीवन पर निर्णायक प्रभाव डालने वाला प्रमुख प्रसंग बना देता है। एक जगह रमाबाई यह स्वीकार करती हुई भी दिखायी जाती हैं कि सावित्रीबाई के जच्चाघर में तीमारदारी करने के दौरान उनके दिमाग़ में स्त्रियों को चिकित्सक का प्रशिक्षण देने का विचार आया है। इसी विचार के आधार पर उन्होंने बाद में न केवल हंटर कमीशन के सामने अपनी गवाही दी, बल्कि स्वयं भी चिकित्सक बनने के लिए इंग्लैंड जाने की ठानी।

> सावित्रीबाई फुले और महात्मा फुले के अलावा शायद ही कोई था जो उनके क्रिश्चियन मिशनरियों के साथ जुड़ जाने का पक्षधर रहा हो! और तो और, विवेकानंद ने भी मैत्रेयी-गार्गी की परम्परा से हट कर विदेशी शासकों के धर्म से उनके जुड़ जाने की कड़ी निंदा की थी। लोकमान्य तिलक तो ख़ैर 'केसरी' में लगातार आग उगल ही रहे थे कि यह देशभक्ति के जज़्बे के बिल्कुल ख़िलाफ़ पड़ने वाली स्वार्थसिद्धि है कि कमज़ोर जातियाँ और स्त्रियाँ धर्म ही बदल लें। ... ... सबसे ज़्यादा चोट रमाबाई को रामकृष्ण परमहंस की आलोचना से लगी जब उन्होंने इस धर्मांतरण को अहम्मन्यता और नाम-धाम पाने की लालसा कहा।[15]

अनामिका ने सत्यशोधक समाज के एक अंत्यज सदस्य और एक ग्रहस्थ ब्राह्मण के बीच एक लम्बा संवाद भी कल्पित किया है जिसके केंद्र में रमाबाई का धर्मांतरण और ब्राह्मण धर्म की आलोचना है। पता नहीं, ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता पर यह विवरण खरा उतरेगा या नहीं, पर उन्नीसवीं सदी में समाज सुधार के ज़रिये चलने वाली आधुनिकीकरण की राजनीति का स्त्री-पक्ष इस उपन्यास में उस समय उभरता है जब वह रमाबाई के मुँह से विवेकानंद की आलोचना करवाता है और उसमें रमाबाई के ही माध्यम से मैक्सम्युलर भी अपना स्वर मिलाते हुए दिखते हैं। इतना ही नहीं, रमाबाई आर्य समाज के यशस्वी संस्थापक और स्त्री के निकट आने से भड़क जाने वाले दयानंद सरस्वती के चमचमाते ललाट को हैरत से देख कर सोचती हैं कि माँ ने बचपन में इनकी खूब तेल-चम्पी की होगी। रमाबाई ख़ुद वेदों की अध्येता थीं, पर वेद-महिमा के नेतृत्व में पनप रहे आर्यसमाजी राष्ट्रवाद के रुतबे में आने के लिए तैयार नहीं थीं। नारीवादी इतिहासकारों ने बताया है कि किस तरह पुरुष समाज सुधारक अपने तमाम उदारतावाद के बावजूद ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के दायरे से बाहर आने के लिए तैयार नहीं थे, और उनकी इस परियोजना में औपनिवेशिक हुक़्मरानों की भी हिस्सेदारी थी। उपन्यास में मौजूद

[14] गेल ऑम्वेट (2000), 'टुवर्ड्स अ थियरी ऑफ़ ब्राह्मनिक पैट्रियार्की', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 35, अंक 4 :187-190.

[15] अनामिका (2008 क): 94.

महाराष्ट्र की पहली स्त्री–डॉक्टर आनंदीबाई जोशी का अमेरिका से अपने पति को लिखा गया एक पत्र भी सम्भवत: रचनाकार की कल्पना की उपज है। लेकिन, वह समाज सुधार के स्त्री–पक्ष के सजावटी पहलुओं का पर्दाफ़ाश कर देता है :

> पिछली चिट्ठी में आपको जो तस्वीर भेजी थी, आपको जँची नहीं और आपने डपट कर लिखा कि उसमें मैंने मराठी ढंग से साड़ी नहीं बाँधी, हिंदुस्तानी या गुजराती ढंग से बाँधी है। पल्लू भी ऐसे लिया है कि देह पूरी ढँक नहीं पायी। क्या मुझे अपने ढंग से साड़ी बाँधने की स्वतंत्रता भी नहीं? मैं आपकी भावनात्मक असुरक्षा समझती हूँ। इस बात पर भी शर्मसार रहती हूँ कि एक स्त्री के रूप में आपको कोई सुख नहीं दे सकी। दूसरा बच्चा भी नहीं। घरेलू कामों में कच्ची रही और पढ़ाई भी पता नहीं पूरी कर पाऊँगी या नहीं। डॉक्टरी में मेरा मन नहीं लगता, चीर–चार होती नहीं। साहित्य ज़्यादा अच्छा लगता है ... ... पर आपकी पत्नी हूँ, आपका आज्ञापालन ही मेरा धर्म बनता है न![16]

सामान्यत: उन्नीसवीं सदी के भारत पर होने वाले अनुसंधान टुकड़ों–टुकड़ों में बँटे रहे हैं। समाज सुधार के ज़रिये चलने वाली आधुनिकीकरण की राजनीति पर अलग से विचार हुआ है, दलित–बहुजन परम्परा पर अलग से शोध हुई है, कांग्रेस में चलने वाली गरमदलीय और नरमदलीय होड़ का राजनीतिक इतिहास लिखने के पृथक उद्यम किये गये हैं, नारीवादी इतिहास–सृजन की परियोजनाएँ अलग से चलायी गयी हैं और धर्मांतरण की परिघटना पर अलग से अनुसंधान किया गया है। लेकिन 'दस द्वारे का पींजरा' के पृष्ठों पर फुले द्वारा चलाये जा रहे अभियान के साथ रमाबाई और उनके पति का रोज़मर्रा का सम्पर्क दिखाने वाली साहित्यिक कल्पनाशीलता एक समेकित समाजवैज्ञानिक प्रोजेक्ट की सम्भावना की ओर इशारा करती है। यह उपन्यास रमाबाई को केंद्र करके एक ऐसी तस्वीर खींचता है जिसमें ये तमाम प्रकरण एक साथ गुँथे हुए हैं और उसकी अंतरधारा में स्त्री का प्रश्न अपनी पूरी अहमियत के साथ मौजूद है। अनामिका यह कहती हुई प्रतीत होती हैं कि अगर स्त्री के सवाल की रोशनी में इस पूरे इतिहास को उसके सभी आयामों में नये सिरे से लिखा जाए तो भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय उदारतावाद और समता की राजनीति के शुरुआती दौर का अभी तक अनुपलब्ध चित्र उभर सकता है।

केंद्रच्युत होता राष्ट्रवाद और सेक्स–वर्कर का किरदार : नारीवादी नायिका की स्थापना का सीधा मतलब है राष्ट्रवाद को औपन्यासिकता के ज़रिये केंद्रच्युत (डि–सेंटर) करना। रमाबाई की राजनीति राष्ट्रवाद से जुड़ी हुई थी, और उसे चुनौती देने से भी नहीं चूकती थी :

> बात 1889 की है। इंडियन नैशनल कांग्रेस की पाँचवीं सभा मुम्बई में होनी थी। समूचा हाल खचाखच भरा था। चमकीली आँखों वाली एक ख़ूबसूरत युवती कुछ कहने के लिए उठी। लाउड स्पीकर था नहीं और पीछे बैठे लोगों तक उसकी आवाज़ नहीं पहुँच पा रही थी। धीरे–धीरे वह आगे बढ़ी और उनके बीच ही आ कर बोली— भाइयो माफ़ कीजिए, मेरी आवाज़ आप तक नहीं पहुँच पा रही। सदियाँ बीतीं क्या कभी आपने स्त्री की बात सुनने की कोशिश भी की। क्या आपने उसको ताक़त दी कि वह अपनी आवाज़ बुलंद कर सके? ठगे से रह गये लोगबाग। उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यही साहसी और पण्डिता रमाबाई थीं। उस दिन के पहले किसी औरत ने कभी कांग्रेस की किसी बैठक में हिस्सा ही नहीं लिया था। यह उनके अथक परिश्रम का नतीजा था कि नौ स्त्री प्रतिनिधि इस सेशन में विधवाओं का केशकर्तन और दूसरे अनाचारों का विरोध करने आयी थीं।[17]

---

[16] अनामिका (2008 क): 118.

[17] अनामिका (2008 क): 258.

यह प्रकरण कैथरीन मेयो की पुस्तक की प्रतिक्रिया में हुई नारीवादी गोलबंदी से लगभग तीन दशक पहले का है। उस ज़माने में उदारतावादी समाजसुधारक स्त्रियों को राजनीति में भाग लेते देखने के लिए तैयार नहीं थे। इस मामले में रमाबाई अपने वक़्त से बहुत आगे थीं। लेकिन राष्ट्रवाद का यह नारीवादी प्रकरण इतिहासकारों की निगाह में महत्त्व प्राप्त नहीं कर पाया। नैशनलिज़्म को डि-सेंटर करने वाली यह प्रक्रिया उस समय स्त्रियों की अपनी दुनिया में रैडिकल आभा से आलोकित हो उठती है जब उपन्यासकार रमाबाई की विरासत किसी अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी और नारीवाद में दीक्षित स्त्री को थमाने के बजाय उसकी जिम्मेदारी एक डेरेदार तवायफ़ ढेलाबाई के कंधों पर डाल देती हैं। ढेलाबाई और भोजपुर क्षेत्र के कवि-नायक महेंदर मिसिर की दिलचस्प कहानी के माध्यम से जोगिनिया कोठी का राष्ट्रवादी इतिहास उभरता है। डॉ. नामवर सिंह ने उपन्यास पर *द पब्लिक एजेंडा* में की गयी अपनी छोटी सी टिप्पणी में उसके इस पहलू का विशेष उल्लेख किया है : 'इस उपन्यास में ऐसी ही एक चरित्र (रमाबाई) ढेलाबाई को उभारा गया है। ढेलाबाई के वजूद और संघर्ष को बिहार में भी बहुत कम लोग जानते हैं। उसी तरह जोगिनिया कोठी को भी एक नयी पहचान दी गयी है। लेखिका ने उस कोठी को जैसे मुक्ति का आश्रम बना दिया है। ढेलाबाई के चरित्र को ऊपर ले आना और उसके माध्यम से स्त्री के संघर्ष तथा साहस की गाथा प्रस्तुत करना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। इसी तरह के दूसरे ऐतिहासिक चरित्र हैं महेंद्र मिश्र, जो बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी इलाके में महेंदर मिसिर के नाम से जाने जाते हैं। वे भोजपुरी में गीत लिखते थे और बहुत ही अच्छा गाते थे। अपने जीवनकाल में ही वह काफ़ी प्रसिद्ध हो चुके थे। उनकी छवि एक रोमांटिक हीरो की थी। वे वेश्याओं की कोठी पर जाते थे। कहा जाता है कि क्रांतिकारियों की मदद के लिए वे जाली नोट भी छापते थे।' महेंदर मिश्र को अंग्रेज़ों की जेल से छुड़ाने के लिए ढेलाबाई अपना सब कुछ होम देती है। यह महज़ एक वेश्या का प्रेम-समर्पिता होना नहीं है, बल्कि उसके पीछे ढेलाबाई की राष्ट्रवादी राजनीति में दिलचस्पी का आयाम भी है। यहाँ उपन्यास उस लोकमान्यता को भी स्पर्श देता है जिसके मुताबिक़ अंग्रेज़ों के ख़िलाफ सशस्त्र विद्रोह करने वाले क्रांतिकारी वेश्याओं के कोठों को अपने छिपने की जगहों के लिए इस्तेमाल करते थे। इसी जगह याद आता है कि वह प्रकरण सम्भवत: कभी 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था। इसके मुताबिक़ 15 अगस्त 1947 को आज़ादी मिलने के दिन बम्बई की वेश्याओं ने छुट्टी मनायी थी और धंधा नहीं किया था।

नामवरजी की यह अनुशंसा हमें यह पता लगाने की प्रेरणा देती है कि रमाबाई, ढेलाबाई और राष्ट्रवाद के संबंध किस वैचारिक योजना के तहत संसाधित हुए हैं। उपन्यास की शुरुआत ही बहूबाज़ार के वर्णन से होती है और अनामिका का जुझारू इरादा स्पष्ट हो जाता है। बहूबाज़ार उनकी निगाह में पितृसत्ता की मार से कराहती औरतों का नहीं, बल्कि 'सजी-धजी दबंग औरतों' का संसार है। प्रारम्भ में ही उन्होंने वेश्याओं को 'सेक्सवर्कर' की संज्ञा दे दी है। सेक्सवर्कर का प्रत्यय नारीवाद की सर्वाधिक रैडिकल और विवादित कृति है। स्त्री सबसे कमज़ोर हालत में वेश्या के रूप में ही होती है। यहाँ तक कि नारीवाद की शुरुआती धारा भी वेश्याओं को अपने दायरे में मानने से परहेज़ करती थी। लेकिन, सेक्सवर्कर एक ऐसी हैसियत है जो वेश्या को पतिता की श्रेणी से निकाल कर एक विचित्र तरीक़े से सबलीकृत कर देती है। और, साथ में गृहिणी के सेक्सवर्कर के रूप में परिभाषित होने की सम्भावना जन्म ले लेती है। सेक्सवर्कर का प्रत्यय नेक और बुरी लड़की के बीच का चिरंतन सा लगने वाला विरोधाभास कमज़ोर कर देता है। आमतौर पर समाज में शारीरिक दोहन की शिकार वेश्याओं का संवाद ग़ैर-वेश्याओं से न के बराबर ही होता है। भद्र समाज के दायरे में रहने वाली स्त्रियाँ वेश्याओं के बारे में चर्चा करते हुए भी बहुत कम देखी जा सकती हैं। लेकिन उपन्यास इस तरह की प्रचलित मर्यादा से बेपरवाह हो कर वेश्या, विधवा, समाज सुधारक और गृहिणी के बीच सतत होती हुई अन्योन्यक्रिया से धड़कता हुआ वातायन बनाता चला जाता है।

अगर समीक्षकगण यह समझते हैं कि उपन्यास को नारीवादी बता कर उन्होंने किसी गहन अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है तो फिर यह हिंदी में साहित्य-समीक्षा के नज़ारे पर एक दिलचस्प टिप्पणी ही है। उसे हिंदी का पहला नारीवादी उपन्यास बताने से भी आलोचना का दायित्व पूरा नहीं होता।

III

अर्थग्रहण की समस्या, भाषा का (पुनः) जेंडरीकरण और आख्यान की भंग होती धारावाहिकता

प्रकाशित होते ही अनामिका की इस द्विखण्डीय कृति को हिंदी की साहित्यिक दुनिया में अर्थग्रहण की समस्या का सामना करना पड़ा। उपन्यास की छोटी-बड़ी कोई बीस समीक्षाएँ तो प्रकाशित हुई ही होंगी। इनमें ज़्यादातर सराहना से आप्लावित थीं। लेकिन अजीब बात यह है कि तक़रीबन हर समीक्षा दोनों खण्डों को अलग-अलग उपन्यास मान कर चलती दिखायी दी। ऐसी समीक्षाएँ भी छपीं जिन्होंने केवल एक खण्ड पर ही निगाह डालना मुनासिब समझा। दोनों खण्डों पर एक ही आलेख में विचार करने वाली एक अपेक्षाकृत बेहतर समीक्षा पहले 'तिनका तिनके पास' की आलोचना करती है (जो इस बृहद कथा का दूसरा भाग है), और फिर एक अलग कृति के रूप में 'दस द्वारे का पींजरा' पर ग़ौर करती है (जो पहला भाग है।[18] अन्यथा सावधान रहने वाले समीक्षकों से ऐसी असावधानी कैसे हुई? इसका एक तकनीकी कारण तो शायद यह रहा होगा कि उपन्यास के दो खण्ड दो अलग-अलग प्रकाशन गृहों द्वारा बाज़ार में लाये गये। उनके आवरण और फ्लैप पर भी स्पष्ट नहीं किया गया कि ये एक ही कथा के दो खण्ड हैं। लेकिन सुधी समीक्षकों से यह उम्मीद तो की ही जा सकती थी कि उनकी निगाह में प्रकाशन की इस विचित्रता के बावजूद इसे एक ही कृति के रूप में ग्रहण करने की क्षमता होगी। सिलसिलेवार पढ़ने पर आसानी से साफ़ हो जाता है कि दोनों खण्डों में एक ही कथा-सूत्र है जो उन्नीसवीं सदी के मध्य के महाराष्ट्र और बंगाल से चल कर मुजफ़्फ़रपुर (बिहार) की जोगिनिया कोठी से होता हुआ उत्तर-औपनिवेशिक भारत की महानगरीय दुनिया तक चला जाता है। किरदारों का भी एक ही सेट है जो इस पूरी गाथा में आता-जाता रहता है। स्वयं अनामिका ने उपन्यास आने के फ़ौरन बाद प्रकाशित एक लेखकीय वक्तव्य में अपनी इस कृति की रचना-प्रक्रिया पर कुछ रोशनी डाली है।[19] वे भी दोनों उपन्यासों के पात्रों के एक ही सेट की चर्चा करते हुए बताती हैं कि इन चरित्रों की रचना करने की प्रेरणा और सामग्री उन्होंने कहाँ से प्राप्त की।

अगर समीक्षकगण यह समझते हैं कि उपन्यास को नारीवादी बता कर वे किसी गहन अंतर्दृष्टि का परिचय दे रहे हैं तो फिर यह हिंदी में साहित्य-समीक्षा के नज़ारे पर एक दिलचस्प टिप्पणी ही है। उसे हिंदी का पहला नारीवादी उपन्यास बताने से भी आलोचनात्मक समीक्षा का दायित्व पूरा नहीं होता। कुछ समीक्षकों ने सम्भवतः ख़ुद को आश्वस्त करते हुए कहा है कि अनामिका का नारीवाद कुछ भिन्न (नरम क़िस्म का) है, अर्थात वह पुरुष विरोधी आक्रामक क़िस्म का नारीवाद नहीं है। यह अवलोकन इस हक़ीक़त का परिचायक है कि हिंदी की दुनिया में नारीवाद का गहन अध्ययन करने वाले साहित्यिक विद्वानों की ख़ासी कमी है। नारीवाद की विभिन्न धाराओं, उसके साहित्यिक सिद्धांत, उसके अंतर्विरोधों और उसकी गहरी पॉलिमिक्स में किसी की पैठ नहीं लगती। चूँकि

---

[18] अमिताभ राय (2009), 'स्त्रीवादी चिंतन से प्रेरित उपन्यास', *समीक्षा* : 9-13.

[19] अनामिका (2009), 'मेरे ये दो *उपन्यास', अन्यथा,* 15: 154-57.

आलोचनाशास्त्रियों के पास स्त्रियों द्वारा लिखी गयी कृतियों को ही समझने के औज़ार नहीं हैं, इसलिए उनसे नारीवादी कृतियों को समझने की उम्मीद ही नहीं की जानी चाहिए। दोनों खण्डों को एक साथ न पढ़े जाने का नतीजा यह हुआ कि उपन्यास के घोषित नारीवाद पर कुछ टिप्पणियाँ करने के अलावा वह वैचारिक और राजनीतिक समीकरण नहीं उभर पाया जिसकी शिनाख़्त से हमारी आधुनिकता और हमारे राष्ट्रवाद के साथ भारतीय नारीवाद के आलोचनात्मक संबंध स्पष्ट हो पाते। प्रकाशकीय गड़बड़ी के साथ-साथ इस अस्पष्टता का सम्भवतः एक कारण यह भी हो सकता है कि ज़्यादातर समीक्षकों की ऊर्जा उपन्यास के शिल्प को 'डिकोड' करने में ख़र्च हो गयी। वे अध्यायों के लम्बे-लम्बे विकट और विचित्र लगने वाले शीर्षकों से या तो चमत्कृत हैं या हताश हैं। इस प्रसंग का सबसे सकारात्मक पहलू यही है कि कम से कम सभी समीक्षकों ने यह ज़रूर माना है कि अनामिका ने उपन्यास के स्थापित ढाँचे को तोड़ने की कोशिश की है। लेकिन समीक्षकगण आमतौर पर उनकी प्रयोगधर्मिता से संतुष्ट नहीं दिखे।

भाषा का जेंडरीकरण कितना अहम मुद्दा है इसका ग़ैर-साहित्यिक और क़ानूनी नमूना सुप्रीम कोर्ट के एक फ़ैसले की भाषा पर उठे विवाद के रूप में सामने आ चुका है। सहजीवन (लिव-इन रिलेशनशिप) को परिभाषित करते हुए जजों ने 'कीप' (रखैल) शब्द का प्रयोग किया, ... अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल ने 'कीप' शब्द पर आपत्ति की और उसे निकालने की माँग की। वरिष्ठ अधिवक्ता की इस माँग का महत्त्व समझे बिना एक जज ने उनसे पूछा कि क्या 'कीप' की जगह 'कॅनक्यूबाइन' शब्द का प्रयोग ठीक रहेगा?

भाषा का (पुनः) जेंडरीकरण : सवाल यह है कि इस कृति की प्रयोगधर्मिता को किस खाने में रखा जाना चाहिए? इस सवाल का जवाब दो स्तरों पर तलाशा जा सकता है। पहले भाषा के स्तर पर, और दूसरे कथानक की संरचना के स्तर पर। स्त्री के लिए भाषा के विशिष्ट महत्त्व पर इस लेख की शुरुआत में ही चर्चा की जा चुकी है। लेकिन, नारीवाद भाषा के पुनः जेंडरीकरण की जब भी कोशिश करता है (क्योंकि उसका मेस्क्युलिन जेंडराइज़ेशन या मर्दानाकरण पहले ही हो चुका है) तो उसका पुरुष भाषाकारों द्वारा कड़ा विरोध होता है। इस रवैये का एक उग्र उदाहरण क़रीब डेढ़ साल पहले साहित्य अकादेमी के सभागार में देखा गया था जब हिंदी के दो प्रतिष्ठित कवियों ने पहले तो इस भाषा में तेजी से पनपते नारीवाद पर दो फटके मारे, और फिर उनमें से एक वक्ता ने चिढ़ कर यह प्रस्ताव ही कर दिया कि हिंदी की वर्णमाला से वे सभी मात्राएँ निकाल दी जानी चाहिए जो करता को करती में, जाता को जाती में और होता को होती में बदल देती हैं। उन्होंने यह अपील भी की कि स्त्रियों द्वारा लिखी गयी सभी कविताओं में इस तरह की क्रियाओं को संशोधित करके ही पढ़ा जाना चाहिए।[20] ऐसा लगता है कि स्त्री को उसकी भाषाई विरासत से वंचित करने का यह प्रोजेक्ट वही है जो 'भारत-भारती' के ज़माने में चलाया जा रहा था।

---

[20] यह समारोह साहित्य अकादमी के सभागार में अनीता वर्मा की कविताओं के लोकार्पण के लिए हो रहा था. वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी और मैनेजर पांडेय ने अपने वक्तव्य में हिंदी में पनपते नारीवाद पर किये गये उस आक्रमण पर आलोचनात्मक निगाह डाली थी.

भाषा का जेंडरीकरण कितना अहम मुद्दा है इसका एक ग़ैर-साहित्यिक और क़ानूनी नमूना हाल ही में सुप्रीम कोर्ट के एक फ़ैसले की भाषा पर उठे विवाद के रूप में सामने आ चुका है। स्त्री-पुरुष के सहजीवन (लिव-इन रिलेशनशिप) को परिभाषित करते हुए जजों ने 'कीप' (रखैल) शब्द का प्रयोग किया, हालाँकि कुल मिलाकर यह फ़ैसला स्त्री के लिए सकारात्मक फलितार्थों वाला ही था। अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल इंदिरा जयसिंह ने 'कीप' शब्द पर आपत्ति की और उसे फ़ैसले के दस्तावेज़ से निकालने की माँग की। वरिष्ठ अधिवक्ता की इस माँग का महत्त्व समझे बिना एक जज ने उनसे पूछा कि क्या 'कीप' की जगह 'कॅनक्यूबाइन' शब्द का प्रयोग ठीक रहेगा? दरअसल, इंदिरा जयसिंह का तर्क था कि अतीत की सामाजिक प्रथाओं के तहत दिये गये नाम आज के ज़माने में विवाहेतर स्त्री-पुरुष संबंधों को परिभाषित नहीं कर सकते। उसके लिए हमें नये नाम गढ़ने होंगे, नयी परिभाषाएँ गढ़नी होंगी जो भाषा के नये सिरे से होने वाले जेंडरीकरण से ही सम्भव है।[21] भाषा का नये सिरे से जेंडरीकरण कितना आवश्यक प्रोजेक्ट है, इसका एक अंदाज़ा अक्टूबर, 2010 में शिमला के उच्च-अध्ययन संस्थान में पाँच दिन तक 'रीडिंग लोहिया' नामक वर्कशॉप से भी मिला। डॉ. राममनोहर लोहिया की रचनाओं पर हो रही बहस के दौरान कुमकुम यादव ने सवाल उठाया कि शहरों पर लिखे अपने आलेख में लोहिया जैसा स्त्री-मुक्ति का समर्थक इस क़दर सेक्सिस्ट भाषा का इस्तेमाल क्यों कर रहा है? चर्चित आलेख में लोहिया द्वारा दिल्ली को 'किसी की न होने वाली वेश्या' की संज्ञा दी गयी है। दुनिया के अन्य शहरों की चर्चा करते समय भी उनका वर्णन करने में स्त्री-देह के विभिन्न हिस्सों का रूपक की तरह इस्तेमाल किया गया है।[22] अदालती फ़ैसले और लोहिया के उदाहरण बताते हैं कि स्त्री के पक्ष में सोचते और लिखते समय भी अगर सतर्क न रहा जाए तो मर्दाने लिंग में ढली भाषा ही स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है।

अनामिका के उपन्यास में उसी भाषा की वापसी होती दिखती है जिसे उन्होंने 'सरस बोली-बानी की परम्परा ... ... हास-परिहास, गुफ़्तगू और लंतरानियों की चटक, सुर्ख, चरपरी भाषा : हिंदी-उर्दू— दोनों ही लहरियों से लहालोट' क़रार दिया है। पुरुष की भाषा और स्त्री की भाषा में पहला अंतर तो यही है कि जिसका तिरस्कार पुरुष 'गॉसिप' कह कर करता है, वह स्त्री के लिए नित्य-प्रति होने वाला आपसी 'एक्सचेंज ऑफ़ डेटा' है जिसमें मेस्क्युलिन जेंडर की कोई भागीदारी ही नहीं है। दोनों खण्ड पढ़ कर ऐसा लगता है कि जैसे औरतें आपसी चिमगोइयाँ कर रही हों। जेंडरीकरण के इस पूरे भाषाई सिलसिले के बीच-बीच में विचारों का सूत्रीकरण करने वाले चुस्त फ़िक़रे भी टँके हुए हैं : जैसे, कोई सोये साथ भले, पर जगते सभी अकेले हैं; हँसी नये ज़माने का घूँघट है; पति कॉमरेड नहीं हो सकता; विवाह के सिर पर क़ानून की छतरी और धर्म का चंदोवा टँगा है; सहजीवन है खुले द्वार का पिंजरा; दुख भी गुप्तांग की तरह जहाँ-तहाँ खोल नहीं देने चाहिए; पिटी हुई औरत का मुँह चूमने की ख़ातिर झुको तो वह घबरा कर अपनी कनपटी पर हाथ तान देती है; सबसे दुर्लभ है पुरुष मित्र; देह-निरपेक्ष सच्चा दोस्त नहीं मिलता किसी अकेली स्त्री को; ब्रह्मचारी वह जो दिन में दूसरों से लड़े और रात में अपने-आप से; बुढ़ापे का मतलब अपना मुँह बंद रखें और बटुए का मुँह खुला हुआ; जब जीवन को सपना समझने की कला समझने की कला साध लेता है आदमी, नींद के सपने गूढ़ाक्षरों की तरह खुलते हैं; दुनिया का सर्वाधिक सर्वसुलभ पीकदान और ओखली तो पत्नी ही होती है; गर्भ दुनिया की सबसे सुरक्षित जगह है; बच्चों का क्या है— वह तो औरत जब चाहे जन ले।

---

[21] : 'लैंग्वज मैटर्स / जेंडर न्यूट्रल पब्लिक वोक्युबलिरी नीडिड' (सम्पादकीय), *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* (25 अक्टूबर 2010), मुंबई.

[22] 'रीडिंग लोहिया' वर्कशॉप भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 3 से 7 अक्टूबर 2010 को हुआ. कुमकुम यादव ने लोहिया के स्त्री संबंधी विचारों का अध्ययन किया है.

पतियों का क्या है— वे तो राह चलते मिल जाते हैं, पर ईश्वर की बनायी गयी धरा पर भाई किसी स्त्री को दूसरा नहीं मिलता; अच्छी चीजें उन्हें पहुँचती हैं धीरज से राह देखते हैं जो; कोई नहीं जानता ताक़त का झरना कब कहाँ से फूटेगा; वह अपनी देह के बाहर टहलने निकल जाती है और अपनी देह की नोच-खसोट उसी निस्संग भाव से देखती है जैसे कि छिपकली अपनी छटर-पटर करती पूँछ जो अचानक ही बंद हुई खिड़की में दब कर कट गयी हो; मुक्ति भी स्त्री लिंग ही तो है, कभी अकेले नहीं मिलती; काश, पुरुषार्थ स्त्रियार्थ भी होते; अच्छी तरह देखो, औरत के जीवन की कविता के पार, उसके जीवन का रुक्ष गद्य; एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ; बचपन— स्मृतियों का फिक्स्ड डिपॉज़िट; सैंयाजी भी औरत का दुधमुँहा बच्चा ही होते हैं; सारी स्त्रियाँ सनातन माता, सारे पुरुष सनातन बच्चे; सर्वसमावेशी क्यों नहीं हो पाता प्रेम; अकेलापन साग-भाजी नहीं जो आसानी से कट जाए; सफ़ाई से गंदगी बढ़ती है; पानी का दाग़ पानी से ही धुलता है।

आलोचनात्मक दृष्टि से देखते ही इन फ़िक़रों में नारीवाद की वह धारा दिख जाती है जिसका बौद्धिक प्रतिनिधित्व अनामिका करती हैं। इस चर्चा के चौथे हिस्से में इस धारा पर विचार किया जाएगा कि स्त्री, स्त्री-देह, पुरुष के साथ उसके संबंधों और सेक्शुअलिटी जैसे मसलों पर इस उपन्यास के माध्यम से कौन-कौन से आग्रह सामने आ रहे हैं। फ़िलहाल स्त्री-भाषा की विशिष्ट संरचना के लिहाज़ से देखने पर लगता है कि उपन्यासकार ने भाषा के जेंडरीकरण के लिए एक ख़ास तरह की युक्ति अपनायी है। उसने गद्य में बहुत बड़े पैमाने पर पद्य का मिश्रण किया है। यह मामला काव्यात्मक गद्य का नहीं है। काव्य-भाषा को गद्य में पिरोने के बजाय यहाँ तो कविता ख़ुद-ब-ख़ुद मौजूद है। लगभग अपनी सभी विधाओं और शैलियों में। उर्दू और फ़ारसी के शेर, नागरी में दर्ज की गयी अंग्रेज़ी की कविताएँ और गीत, पंजाबी की कविताएँ, भोजपुरी के छंद, संस्कृत के श्लोक, फ़िल्मी गानों की पंक्तियाँ, हिंदी की आधुनिक कविता (ख़ुद उपन्यासकार की और हिंदी के अन्य प्रतिष्ठित कवियों की कविताएँ)। ऐसा पहले कभी नहीं सोचा गया होगा कि ऐसा करने से भाषा का जेंडरीकरण हो सकता है। पर इस उपन्यास का प्रभाव ऐसा ही पड़ता है। पढ़ते-पढ़ते किसी भी संवेदनशील पाठक को लगेगा कि वह किसी स्त्री की भाषा पढ़ रहा है या कोई स्त्री उसे अपनी भाषा पढ़ा रही है। जो पाठक साहित्य में पारंगत नहीं है, उसके लिए यह जानना मुश्किल है कि कहाँ से कविता शुरू हुई, किसकी कविता है और कहाँ से फिर गद्य की वापिसी हुई। जैसे :

> दूसरा व्यक्ति जो इस रंजकता से दूर एक कोने में बैठा था ... अवंतिकाजी ने बताया कि साहिल के भाई वही हैं। पी वे भी नहीं रहे थे। दूर बैठे जग का मुजरा लिए जाते थे। मैं ही वसंत का अग्रदूत/ ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत/ ... ... इन सब के बीच कैसा लग रहा है यह दलित चिंतक, सादा कुर्ता पायजामा में कड़ी चाय। बाहर मैं कर दिया गया हूँ/भीतर पर भर दिया गया हूँ/ऊपर वह बर्फ़ गली है/नीचे वह नदी चली है/सख़्त चने के ऊपर नर्म फली है/इसी तरह हर दिया गया हूँ/ ... मैंने उसको जब-जब देखा/ढलता देखा/लोहा जैसा/तपते देखा/गलते देखा/ढलते देखा/गोली जैसा चलते देखा/... राष्ट्रगान में कौन भला यह भारत भाग्य विधाता है/फटा सुथन्ना पहने जिसका गुन हरचरना गाता है ...।[23]

यहाँ पूछा जा सकता है कि क्या कविता की भाषा में स्त्री का होने के सम्भावना ज़्यादा मौजूद है? इसका एक कमोबेश जवाब उपन्यास के पृष्ठों पर भी मौजूद है :

> सब के सब भारतीय क्लासिकों में प्रेम की पहल नायिका की तरफ़ से ही हुई है— स्वयंवरा ही रही है हर नायिका। पुरुष चित्त में प्रेम भरा भी हुआ है तो वह धीरोदात्त भाव से इंतज़ार करता है

[23] अनामिका (2008 ख), *तिनका तिनके पास*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 95.
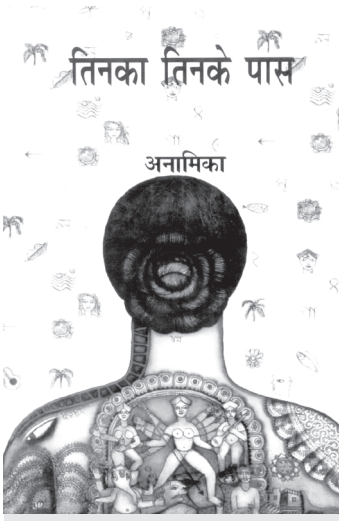
दरअसल, कथांकन और आख्यान की स्थापित संरचना भंग करने के कार्यभार का स्रोत महज प्रयोगधर्मिता या किसी साहित्यिक आंदोलन में हिस्सेदारी नहीं है। यह तो एक सुपरिभाषित और बुनियादी नारीवादी दायित्व है, ठीक उसी तरह जैसे भाषा का जेंडरीकरण भी एक मूलभूत नारीवादी अनिवार्यता है। प्रत्येक रचनाकार स्त्री ऐसा नहीं कर पाती।

> कि स्त्री पहल करे— पार्वती, शकुंतला, सीता, दमयंती, राधा ... ... सफल प्रेम वे ही हुए हैं जिनमें चयन स्त्री ने ही स्वेच्छा से किया है और पुरुष ने अफरा-तफरी नहीं मचायी है। ... ... कालिदास, श्रीहर्ष, भवभूति और भट्ट नारायण स्त्री-पुरुष संबंधों के सफल चितेरे इसीलिए हो पाये कि वह अंत:प्रज्ञा से सृष्टि का रहस्य समझ गये।[24]

अनामिका की यह भाषाई कारीगरी बेलौस है और कविता की तरह ही कभी ख़त्म नहीं होती। लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि इस प्रक्रिया में कुछ दूसरी ज़रूरी भाषाई कारीगरियाँ उनसे छूट गयी हैं? एक सुधी समीक्षक की यह आलोचना सटीक है कि 'जिसे पात्रानुकूल भाषा कहते हैं, वह यहाँ बिल्कुल नहीं मिलेगी। सारे पात्र एक ही भाषा में बात करते हैं। भाषा में पात्र के परिवेश, गुणधर्म का स्थान शून्य है। पप्पू पनीर वाले के यहाँ काम करने वाला लड़का भी उसी भाषा में बात करता है जिसमें तारा और अवंतिका कक्कड़। कानन के लिए यह सूचना है कि अंसारी साहब के रिश्तेदारों से वह ख़राब उर्दू में बात करती है, परंतु यह सूचना मात्र है। उसकी भाषा-शैली में यह बात उभर कर नहीं आती।' यह अलग बात है कि इस समीक्षक को इसमें भाषा के लोकतंत्रीकरण की सम्भावना भी नज़र आती है : 'यह बदलाव अभी और निथरे रूप में सामने आयेगा, क्योंकि भाषा में यह परिवर्तन समाज में हो रहे परिवर्तनों का अनुगामी है।'[25]

कथांकन की स्थापित संरचना तोड़ना : समीक्षकों को इस बात का पूरा एहसास है कि इस उपन्यास ने कुछ ऐसा ज़रूर किया है जो अन्य उपन्यासों में नहीं पाया जाता : 'एक स्त्री लेखक को रियायत देते हुए इसे उपन्यास मान भी लिया गया, तो कहा जाएगा कि इसमें अल्लम-गल्लम बहुत ज़्यादा है, शिल्प की चुस्ती नहीं है और बिखराव की तो कोई सीमा ही नहीं है।[26] ... ... जो चीज़ सबसे ज़्यादा प्रभावित करती है, वह है इसका ढाँचा। उपन्यास तो अच्छे लिखे जाते हैं, पर बहुत कम लोग इसके साँचे और ढाँचे को बदल पाते हैं। अनामिका ने बदला है। यह सीधे-सीधे धारावाहिक आख्यान कहता हुआ उपन्यास नहीं है। बल्कि एक कथा-कोलाज़ है। इसमें कई लोगों के मुख से कहानी कहलायी गयी है।[27] ... ... आकार में यह उपन्यास दिखता है, पर इसने इस विधा को डीक्लास किया है। कथा सूत्र इतने अवांतर और बिखरे प्रसंगों से भरे हैं कि एकसूत्रीय कथावस्तु बताने में मुश्किल होती है। विषय की विविधता भी अत्यधिक है। कथाशिल्प और शैली में भी

---

[24] वही : 92.

[25] अमिताभ राय (2009).

[26] राजकिशोर (2009), 'हिंदी का पहला स्त्रीवादी उपन्यास', *जनसत्ता,* दिल्ली.

[27] नामवर सिंह की *द पब्लिक एजेंडा* (2010) में टिप्पणी से.

पर्याप्त विविधता है। कभी यह डायरी शैली में है, कहीं पत्र शैली में, कहीं निबंध, कहीं विचारोत्तेजक भाषण के रूप में।[28] ... . यह उलझे सवालों का समाधान ढूँढ़ता, उत्तर-आधुनिक थियरी पर लिखा गया घुमंतू कबायली उपन्यास है।'[29] समीक्षा-टिप्पणियों का यह कोलाज़ बताता है कि राजकिशोर द्वारा व्यक्त किया गया अंदेशा (जो मुख्यत: *तिनका तिनके पास* के बारे में है) सही साबित नहीं हुआ है। डॉ. नामवर सिंह ने अपने स्थायी स्तंभ 'सबद निरंतर' में सीधे-सीधे धारावाहिक आख्यान से अलग इस कृति (*दस द्वारे का पींजरा*) का शुमार 'इधर के दो-तीन महत्त्वपूर्ण उपन्यासों' में करके इस प्रयास को मिली मान्यता पर अपनी मुहर लगा दी है।

चूँकि समीक्षकों ने परिस्थिति विशेष के कारण उपन्यास को उसकी सम्पूर्णता में पढ़ ही नहीं पाया है, इसलिए वे कबायली उपन्यास, कथा-कोलाज़ या विधा डीक्लास करने जैसे अवलोकन कर रहे हैं। दरअसल, कथांकन और आख्यान की स्थापित संरचना भंग करने के कार्यभार का स्रोत महज़ प्रयोगधर्मिता या किसी साहित्यिक आंदोलन में हिस्सेदारी नहीं है। यह तो एक सुपरिभाषित और बुनियादी नारीवादी दायित्व है, ठीक उसी तरह जैसे भाषा का जेंडरीकरण भी एक मूलभूत नारीवादी अनिवार्यता है। प्रत्येक रचनाकार स्त्री ऐसा नहीं कर पाती। हिंदी की दुनिया पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से स्त्री-रचनाकारों के मामले में उत्तरोत्तर समृद्ध होती जा रही है, पर नारीवादी साहित्य सिद्धांत की इन दो लाज़मी शर्तों पर खरी उतरने वाली यह पहली ही रचना है। यह स्त्री-लेखन संवेदना के धरातल पर पुरुष-लेखन से पर्याप्त भिन्न है और पाठकों को एक नयी दुनिया और अनुभूतियों की प्रामाणिकता का आस्वाद कराता है। पर अपनी सभी ख़ूबियों के बावजूद लगभग सभी कृतियाँ कथांकन के प्रयोजनमूलक ढाँचे से बँधी हुई हैं। शायद इसी प्रयोजनमूलकता को नामवरजी ने आख्यान की धारावाहिकता क़रार दिया है।

नारीवादी साहित्य सिद्धांत आत्म-सचेत नारीवादी लेखक से यह उम्मीद भी करता है कि वह आख्यान की आदर्श समझी जाने वाली क्रमबद्धता तोड़ते हुए एक नवीन आख्यान की सृष्टि भी करेगा। आख़िरकार कथांकन या आख्यान ज्ञान को संगठित करके पाठकों या ऑडिएंस को थमाने की विधि है। जो काम पुरुष लेखक अनंत काल से करते आ रहे हैं, वही काम एक रैडिकल भिन्नता के साथ नारीवादी रचनाकार को भी करना है। उपन्यास की शुरुआत होती है सहजीवन और विवाह पर एक तुलनात्मक वक्तव्य से जिसका सिलसिला रमाबाई द्वारा संस्थापित शारदा सदन तक जाता है, और पूरे 585 पृष्ठों के बाद अंत होता है एक तक़रीबन वैसे ही संसार की प्रस्तावना के साथ जिसकी सम्भावनाएँ काननबाला ने शारदा सदन की गतिविधियों में देखी थीं। यह उपसंहार उपन्यास को भारतीय नारीवाद के एक ख़ास तरह के घोषणा-पत्र में बदल देता है जिसके केंद्र में एक नारीवादी यूटोपिया है। जरूरी नहीं कि इस घोषणापत्र से सभी लोग सहमत हों। यहाँ तक कि सभी नारीवादी भी इससे सहमत नहीं होंगे। कहना न होगा कि इस यूटोपिया की ज़मीन, दीवारें और छत की तरमीम ज्ञान के एक ख़ास तरह के संगठन से हुई है। इसलिए पहले यह देखना ज़रूरी है कि आख़िरकार उपन्यासकार ज्ञान का कौन सा संगठन पाठकों के सामने परोसना चाहती है।

एक समीक्षक ने सवाल उठाया है कि उपन्यास के पात्र उनके देशकाल से वंचित कर दिये गये हैं। उपन्यास की अवधि और स्थानिकता को तारीख़ों और भूगोल के आईने में देखा जाएगा तो ऐसा लगेगा ही। असल में उपन्यास का काल आधुनिक समय है और आधुनिकता उसका देश है। एक ऐसा

---

[28] अमिताभ राय (2009).

[29] स्मिता मिश्र (2009), 'रचनात्मकता में नया', *इंडिया टुडे,* 31 दिसम्बर : 65-66.

देश और एक ऐसा काल जो यूरोप से भिन्न है। जिसके तहत राष्ट्रवाद और नारीवाद एक साथ पैदा हो रहे हैं, पनप रहे हैं, एक-दूसरे का इस्तेमाल कर रहे हैं और अपना इस्तेमाल नियोजित रूप से रोक रहे हैं या होने दे रहे हैं, समाज सुधार की राजनीति में भाग ले रहे हैं और उपनिवेशवाद के साथ विनिमय कर रहे हैं। उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी के शिखर पर होने के कारण राष्ट्रवाद का वर्चस्व क़ायम हो रहा है, पर नारीवाद उसे मानने के लिए तैयार नहीं है। उसके पास अपनी माँगें हैं, ठीक उसी तरह जैसे 'डिप्रेस्ड क्लास' या निचली जातियों और समुदायों के पास अपनी माँगें हैं। उसकी ये माँगें आज़ादी मिलने के बाद भी क़ायम रहती हैं। राजनीतिक आधुनिकता के बोलबाले के दौरान नारीवाद यह कह रहा है कि राजनीतिक विचारधाराएँ, चाहे मार्क्सवादी हों या उदारतावादी, स्त्री-पुरुष संबंधों को एक क्षैतिज धरातल पर लाने में नाक़ाम हैं। आनंदीबाई जोशी द्वारा अपने सुधारवादी पति को लिखे पत्र और कॉमरेड गार्गी के पत्र सामाजिक आधुनिकीकरण के दोनों सिरों को कठघरे में खड़ा कर देते हैं। उन्नीसवीं सदी की रमाबाई, बीसवीं सदी की शुरुआत की ढेलाबाई, भूमंडलीकरण के ज़माने की अवंतिका कक्कड़ और तारा नाकाम होने के लिए अभिशप्त तलाश में लगी हुई हैं। परिवार के भीतर हो या परिवार के बाहर सेक्शुअलिटी का क़िस्सा एक सा ही है। यौन-सुख खरीदने वाले ग्राहकों, पराक्रमी प्रेमियों और रंग-रुतबे वाले पतियों के साथ की जाने वाली देह की रगड़-घिस्स के विपरीत उन सभी को अपना-अपना धीरोदात्त नायक चाहिए। मुश्किल यह है कि धीरोदात्त नायक केवल भरत के नाट्यशास्त्र के पृष्ठों में ही क़ैद है। सुधीर कक्कड़ की एक स्थापना के मुताबिक़ नारीवाद आधुनिकीकरण और राष्ट्रवाद की परिवर्तनकारी शक्तियों से पूछ रहा है कि तेज़ी से बदलते हुए भारत की केवल सेक्शुअल घड़ी (अर्थात स्त्री-पुरुष संबंध) ही इतनी धीमी रफ़्तार से टिक-टिक क्यों कर रही है?

ज्ञान के इस संगठन को निगाह में रख कर देखने पर इस उपन्यास में कथांकन की रैडिकल भिन्नता के दर्शन होते हैं। उपन्यास में कई सूत्रधार हैं। फ़्लैशबैक का इस्तेमाल किये बिना अतीत का आगमन होता है। देर-देर तक अतीत-वर्णन होते रहने के बावजूद उपन्यास का देशकाल वर्तमान में ही स्थित रहता है। इस दृष्टि से वह ऐतिहासिक उपन्यास कभी नहीं बनता। प्रथम पुरुष और अन्य पुरुष आपस में गड्ड-मड्ड हैं। तरह-तरह की विधाओं का इस्तेमाल है। *क़िस्सा तोता-मैना* की क़िस्सागोई के ज़रिये दिखाया गया जेंडर-युद्ध है। पात्र एक-दूसरे को लम्बे-लम्बे पत्र लिख कर अपने वक्तव्य दर्ज कराते हैं। यहाँ तक कि समाज-विज्ञान की तरह दूसरी पुस्तकों से कई-कई पृष्ठों तक उद्धरणों का प्रयोग भी किया गया है। यह पाश्टिश की तकनीक़ का इस्तेमाल भी हो सकता है, और बर्तोल्त ब्रेख़्त की तर्ज़ पर कथानक के प्रवाह को जानबूझ कर तोड़ने का प्रयोजन भी हो सकता है ताकि आत्मचिंतन (सेल्फ़-रिफ़्लेक्सिविटी) का मौक़ा मिल सके। हालाँकि रचनात्मक साहित्य को 'कहना' नहीं बल्कि 'दिखाना' चाहिए, लेकिन यह उपन्यास कई बार 'कहने' पर तुल जाता है। पाठक को श्रोता मान कर वह वक्ता की तरह उसके साथ संवाद करता है। कल्पनाजनित पात्रों को यथार्थ में मौजूद किरदारों के साथ रख दिया गया है। कालगर्लीय अनुभव से गुज़र चुकी तारा और दार्शनिक रामचंद्र गाँधी का संवाद इसी क़िस्म का है। इससे हॉलीवुड की उन फ़िल्मों की याद आती है जिनमें यथार्थपरक भूमिका निभाते हुए किसी एक्टर की मुलाक़ात अचानक एक ऐनीमेटिड पात्र (कार्टून करेक्टर) से हो जाती है और वे बाक़ायदा आपस में बातचीत करते हैं, एक-दूसरे की मदद करते हैं। फ़िल्म तकनीक के ज़रिये जो प्रकरण दर्शकों के लिए मनोरंजन की स्थितियाँ पैदा करता है, उपन्यासकार ने लगभग उसी तकनीक का इस्तेमाल करके पाठकों से कहा है :

> उस दिन रामचंद्र गाँधी ने तारा से बातों-बातों में कहा, '... एक दिन शिव की आँखें पीछे से आकर पार्वती ने मूँद लीं ... शिव हँस कर बोले— क्या चाहती हो, दुनिया को देखूँ नहीं, सिर्फ़ तुम्हें देखूँ? पार्वती बोलीं— चाहती मैं ये हूँ कि आप सारी दुनिया में मुझको ही देखें और मुझमें सारी दुनिया ....।' ... ... इधर वो लगातार यह भी कह रहे थे, 'हमारे समाज की यह बड़ी समस्या है

> कि हमारा कोई पिता नहीं रहा। पितृत्वविहीन समाज है यह। पिता या पति बनने की कुव्वत नहीं रही किसी की। स्त्रियाँ तो मातृभाव में हैं भी, लेकिन पुरुष बारहवीं से ज़िद्दी बच्चे की स्थिति से बाहर नहीं निकल पाये।'[30]

यह एक जटिल प्रसंग है। इसका सूत्रधार एक महत्त्वपूर्ण दलित पात्र है जो दो सवर्णों के बीच हो रही इस बातचीत के कारण ख़ुद को छिटका हुआ और अलगाव में पाता है। बहरहाल, पता नहीं रामचंद्र गाँधी ने ऐसा कहा था या नहीं। हो सकता है कहा हो, पर अनामिका ने उनके मुख से कहलवाया है। वे ज्ञान की जो संरचना पेश करना चाहती हैं वह नारीवाद की ख़ास प्रवृत्ति की परिचायक है जिस पर इस लेख के अंतिम खण्ड में विचार किया जाएगा।

IV

धीरोदात्त नायक, मातृत्व और नारीवादी यूटोपिया / पुरुष का विश्लेषण और स्त्री का संश्लेषण

उपन्यास के वैचारिक सूत्रों की तरफ़ इशारा करने वाले चुस्त फ़िक़रों, रामचंद्र गाँधी से कहलवाये गये उक्त संवाद और इस आलेख में दिये गये उद्धरणों से अभी तक एक अंदाज़ा लग गया होगा कि आख़िरकार एक संवेदनशील स्त्री के सपनों में उसके कटे हुए हाथ क्यों छटपटाते हैं। एक समीक्षक का विचार है कि उपन्यास में एकल कथासूत्र की कमी तो है ही, एक अंतर्धारा के रूप में एकल विचारसूत्र भी ग़ायब है। कथासूत्र किस रूप में मौजूद है, इसकी चर्चा हो चुकी है। विचारसूत्र न पकड़ पाने की समस्या कुछ संगीन है। इसका ताल्लुक़ उस मार्क्सवादी बुढ़भस से है जिसके अवशेष युवा आलोचकों में भी पाये जाते हैं। दिक़्क़त उस समय बढ़ जाती है जब बुलंद आवाज़ में बोलने के बावजूद विचारसूत्र पकड़ में नहीं आता, क्योंकि इन समीक्षकों को विचार वैसा ही चाहिए जो प्रचलित क़िस्म की मार्क्सवादी संहिताओं में दर्ज है। पहले परम्परा ने और फिर राष्ट्रवादी आधुनिकता ने स्त्री-पुरुष संबंधों की जिस संरचना को पुष्ट और नवीकृत किया, उसे लैंगिक लोकतंत्र की कसौटियों पर कसते हुए आलोचना करने की प्रक्रिया में यह विचारसूत्र अभिव्यक्त होता है। इसे रेखांकित करने वाले ये उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

> हर निराश प्रेमी दाँत किटकिटाता-सा दुश्मन बन कर उनके कक्ष से निकलता और तरह-तरह के दुष्प्रचारों, कटाक्षों और गाली-गलौज में उसी दत्तचित्तता से जुट जाता जिससे कि पहले प्रेम निवेदन में जुटा था। आश्चर्य-विह्वल देखती रहतीं रमाबाई कि देह का प्रत्याशी प्रेम तो सचमुच कपूर है, जो बिना आँच के क्षण में उड़ गया, आँच मिलने पर तो क्षणांश में ही उड़ जाता। ... पहले कुछ हफ़्ते तो प्रेम के आवेदकों को भरोसा ही नहीं होता कि विवाह की उम्र पार कर गयी, 'अबंड' इधर-उधर घूमती-फिरती अकेली औरत उन जैसे क़ाबिल जवाँमर्द का प्रणय-निवेदन स्वीकार कर सकती है।[31]

> कोई पिटी हुई निरुपाय पत्नी पति से सट कर जब अपना ब्लाउज़ ऊपर उठा ले— सिर्फ़ इसलिए कि उसके पास जाने की और कोई जगह नहीं, कि उसके बच्चे अभी दुधमुँहे हैं, कि बाहर की दुनिया और भयानक लगती है उसको, उसकी स्थिति किसी वेश्या से बेहतर नहीं होती। यह सब मैंने खुद उस क्षण महसूस किया जब 'गेट आउट' कहने के अगले ही घंटे सब भूल कर मेरे पतिदेव मेरे ही दुधमुँहे बच्चे बन कर गोदी में मस्त सो लिए— और मैं छत की बीमें गिनती चुपचाप सोचती

---

[30] अनामिका (2008 ख): 123-25.

[31] अनामिका (2008 क): 58-9.

रही कि उठने के ग्यारहवें क्षण फिर वही हाँय-हाँय, झाँय-झाँय जब शुरू होगी— मन की वितृष्णा कैसे पोंछूँगी, जाँघों पर असमय ही भभक पड़ी वीर्य की बूँदों की तरह या आँसुओं की तरह।[32]

एक प्रकरण उन्नीसवीं सदी के मध्य में परम्परापीड़ित सार्वजनिक जीवन में अकेले पैर जमाने की कोशिश कर रही विधवा रमाबाई का है, और दूसरा बीसवीं सदी के संसदीय लोकतंत्र में वामपंथी राजनीति के ज़रिये मुक़ाम हासिल कर चुकी अवंतिका देवी का है। अवंतिका तारा से यह भी कहती हैं : 'एक तरह की कालगर्ल हर औरत होती है। ब्याहता गृहस्थिन भी। कालगर्ल को यह छूट तो होती है हर 'काल' पर वह प्रस्तुत न हो, पर गृहस्थिन की क्या मज़ाल!'[33]

परिवार की संस्था की स्थिति यह है कि उपन्यास के केवल एक पात्र को (रमाबाई) को ही केवल थोड़े से दिनों का सुखी दाम्पत्य मिलता दिखाया जाता है, वरना इस रचना की लगभग हर स्त्री (गृहिणी हो या कालगर्ल) अपने मनचाहे पुरुष की खोज में विफल है। वह यौन-क्रिया के प्रति असहज है, अपनी देह को लेकर शंकित है, पुरुष के रवैये को लेकर क्षुभित है। वह यौन-क्रिया में उतरती है तो किसी सौदे के लिए, चाहे बदले में उसे धन मिला हो या सामाजिक सुरक्षा। अगर वह सौदा नहीं कर रही है तो फिर वह देह-दान कर रही है। बदले में वह पुरुष-देह का प्रतिदान न लेकर चिकित्सक की तरह है जो केवल दवा देता है, लेता नहीं। देह के माध्यम से वह पुरुष-मानसिकता का उपचार करना चाहती है। अनामिका का दावा स्पष्ट है कि बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरणों के दौरान जन्मी भारतीय आधुनिकता और राष्ट्रवाद पूरे डेढ़ सौ साल तक यात्रा करने के बावजूद उस धीरोदात्त नायक का साँचा तैयार नहीं कर पायी जिसकी चाह आधुनिक स्त्री को है।

अनामिका को नरम क़िस्म के नारीवाद का प्रतिनिधि मानने वालों को यहाँ साफ़ तौर पर दिख जाना चाहिए कि उनके हाथ में सर्जन का स्केल्पर है और सामने ऑपरेशन टेबिल पर पड़े हुए आधुनिक और राष्ट्रवादी पुरुष के रेशे-रेशे को अपने हिसाब से चीरती हुई देख रही हैं कि उनका इच्छित धीरोदात्त नायक कहाँ छिपा है। चूँकि किसी भी तरह की औरत को वह नायक नसीब नहीं है, इसलिए फिर पुरुष के रूप में उपलब्ध सामग्री दरअसल है क्या? उस सामग्री से स्त्री का रिश्ता क्या है? ठीक इसी जगह उपन्यासकार नारीवाद की एक ख़ास प्रवृत्ति की नुमाइंदगी करती नज़र आती है। और, यह प्रवृत्ति है नारीवादी तात्त्विकतावाद अर्थात फ़ेमिनिस्ट इसेंशियलिज़म। यह फ़ेमिनिस्ट इसेंशियलिज़म ही इस कृति के सभी स्त्री चरित्रों के भीतर मातृत्व की प्रधानता स्थापित करता है। हर जगह और हर परिस्थिति में स्त्री मुख्य तौर पर माँ है। इसके बाद अगर कुछ है तो डॉक्टर या तीमारदार है। पुरुष हर जगह बच्चा है, कभी बहुत छोटा तो कभी कुछ बड़ा। या फिर पुरुष 'क्रोध और कामना' का बीमार है और किसी चाराग़र का तलबग़ार है। पुरुष और पुरुषत्व को क्या इससे ज़्यादा भी ख़ारिज किया जा सकता है?

तात्त्विकतावाद नारीवाद के दो प्रमुख ध्रुवों में से एक है। दूसरा ध्रुव है सोशल कंस्ट्रक्टिविज़म या सामाजिक रचनावाद। तात्त्विकतावाद स्त्री को उसके अनिवार्य गुणों की रोशनी में ही देखना चाहता है। ज़ाहिर है कि इन अनिवार्य गुणों में से बहुत से गुण स्त्री की उस विशिष्ट जैविकता की देन हैं, जो पुरुष को नसीब नहीं हो सकती। इसलिए अक्सर इस तात्त्विकतावाद को बॉयलॅजीकल इसेंशियलिज़म भी कहा जाता है। यह तात्त्विकतावाद कहता है कि स्त्री होती है। सामाजिक संरचनावाद कहता है कि स्त्री होती नहीं समाज और परिस्थितियाँ उसे बनाते हैं। लेकिन दो ध्रुवों में आसान सा लगने वाला नारीवाद का यह विभाजन काफी नफ़ीस क़िस्म का और बड़ी हद तक परस्परव्यापी है। इसे

[32] अनामिका (2008 ख): 65.

[33] अनामिका (2008 ख): 65.

सरलीकृत ढंग से लेने पर समझ की समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। सामाजिक रचनावादी कभी भी तात्त्विकतावादी लग सकते हैं और तात्त्विकतावादी उनसे भी ज़्यादा बुलंद स्वर में कह सकते हैं कि औरत औरत होने के साथ बहुत कुछ और भी है। गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक का एक कथन इस परस्परव्यापी स्थिति का प्रमाण है जब वे तात्त्विकतावाद की आलोचना करने के साथ-साथ यह भी कहती नज़र आयीं कि अगर स्त्री को राजनीतिक गोलबंदी करनी है तो उसे एक तरह का 'रणनीतिक तात्त्विकतावाद' अपनाना पड़ सकता है। लेकिन तात्त्विकतावाद एक ऐसी शै है जो कभी भी अस्थायी नहीं होता। अनामिका का तात्त्विकतावाद भी महज़ रणनीतिक नहीं है। वह उनकी कृति की बौद्धिक संरचना में इतने भीतर तक बिंधा हुआ है कि उसे चिह्नित करना आसान नहीं है। हर विचारधारा की तरह नारीवादी तात्त्विकतावाद के साथ भी उसकी अनन्यताएँ, उसके पूर्वग्रह और उसकी अंतर्निहित अहम्मन्यताएँ चिपकी हुई हैं। उपन्यासकार की ख़ूबी यह है कि वे अपनी नरम और गुनगुनी भाषिक तबीयत के पीछे इन दोषों को छिपा लेती हैं।

केवल एक ऐसा मौक़ा है जब उपन्यास का तात्त्विकतावाद कुछ लापरवाह हो कर सतह पर आ जाता है। सतर्क पाठक के हाथ यह अवसर उपन्यास के दूसरे खण्ड की शुरुआत में लगता है जब शीरीन के मुख से अनामिका 'मानवजाति का इतिहास गढ़ने वाली दो महावृत्तियों' की चर्चा करवाती हैं। ये महावृत्तियाँ हैं, एक क्रोध और दूसरी कामना। इसके बाद अगले तीन पृष्ठों पर कामी और क्रोधी पुरुषों की विभिन्न श्रेणियों की प्रकटत: मनोरंजक चर्चा की गयी है। क्रोधी कौन हैं : प्रतिपालक होने का अहंकार रखने वाले मर्द, ख़ुद को नैतिक और प्रभावान मानने वाले भद्र पुरुष, स्वयं को नियंत्रित न कर सकने वाले कुंठित लोग, कहीं का गुस्सा कहीं निकालने वाले निर्बल लोग और घर की ज़मीन पर आतंकवादी गतिविधियाँ करने वाले गृहस्थ। कामीजन कौन हैं : सुपरएक्टिव दिल वाले, सुपरएक्टिव दिमाग़ वाले, सुपरएक्टिव अधोभाग-लातादि वाले, सुपरएक्टिव जीभ वाले, चुप्पी और बंकिम दृष्टि जैसे सूक्ष्मतम अवयवों के सहारे 'मिशन एकम्पलिश्ड' करने वाले, निष्काम भाव से काम की तुष्टि करने वाले, हरदम भटकने और अतृप्त रहने वाले रोमानी जन।[34] यह दिलचस्प वर्गीकरण सामने आने के बाद सतर्क पाठक सवाल पूछना चाहता है कि अगर काम और क्रोध 'पुरुषजाति' की न हो कर 'मानवजाति' की महावृत्तियाँ हैं तो फिर इस वर्गीकरण से स्त्रियाँ क्यों लापता हैं? लेखिका ने अपने ख़ुशनुमा लहज़े में पुरुषों के मानस का अंगोच्छेदन कुछ इस तरह से किया है, जैसे कि स्त्री न तो काम की शिकार हो सकती है, न क्रोध की और न मद की। अगर उपन्यास के इस प्रसंग की रोशनी में पहले खण्ड को दोबारा और बाक़ी बचे हुए उपन्यास को नये सिरे से पढ़ा जाए तो दिखने लगता है कि तात्त्विकतावाद कहाँ-कहाँ बोल रहा है। स्त्री को पुरुष ने पत्नी, प्रेमिका, बहिन, माँ, विधवा और वेश्या की तरह वर्गीकृत किया है, पर अनामिका ने अपनी विचारधारात्मक प्रविधि का इस्तेमाल करके उसे एक यूनिट में बदल दिया है। यह यूनिट है माँ का। माँ नामक यह इकाई एकाश्म हो कर मानवजाति के इतिहास से बाहर खड़ी है। वह सदैव ही कल्याणकारी और शुभ है। अगर कुछ विकार उसमें दिखते भी हैं तो उपन्यासकार के मुताबिक़ उसे कहीं न कहीं पितृसत्ता की बुराइयों की छूत लग गयी होगी। यह रवैया पुरुष के विश्लेषण और स्त्री के संश्लेषण का असाधारण नमूना है।

इसमें कोई शक नहीं कि केवल स्त्री ही माँ बन सकती है। पुरुष सब कुछ हो सकता है, पर माँ नहीं बन सकता। मातृत्व ही अंतिम और अनुलंघनीय जैविक विभाजन है। स्त्री की प्रजननकारी क्षमता ही वह मुक़ाम है जहाँ पर पुरुष स्त्री की श्रेष्ठता स्वीकारने के लिए बाध्य है। लेकिन क्या स्त्री की ऐसी प्रकृतिप्रदत्त और निर्विवाद ख़ूबी उसे एक सत्तामूलक हस्ती बना सकती है? क्या माँ की सत्ता के

[34] अनामिका (2008 ख): 28-30.

नेतृत्व में पितृसत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया जा सकता है? इस सवाल का जवाब नारीवाद के दोनों ध्रुव अलग-अलग तरह से देते हैं। चूँकि मातृत्व के साथ लालन-पालन की ज़िम्मेदारियाँ भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हैं (जिनके कारण स्त्री घर की चारदीवारी में, प्राइवेट दायरे में क़ैद हो जाती है), इसलिए नारीवादियों ने उसे औरत के उत्पीड़न के एक स्रोत के रूप में भी चिह्नित किया है। आख़िरकार पुरुषत्व और स्त्रीत्व की मौजूदा सामाजिक संरचनाएँ मातृत्व की सक्रिय हिस्सेदारी और उसके इर्द-गिर्द ही बनती हैं। इसीलिए सामाजिक रचनावादी विदुषियाँ स्त्री होने और माँ होने को अलग-अलग करके देखना पसंद करती हैं। हालाँकि तात्त्विकतावादी विदुषियों को 'मातृमूलक नैसर्गिकता' बहुत प्रिय है, पर ख़ासे अंदरूनी बहस-मुबाहिसे के बाद नारीवादी विद्वत्ता अब इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी लगती है कि गर्भ धारण करने और बच्चा पैदा करने को अलग करके समझना चाहिए। लालन-पालन, उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ और अन्य संबंधित पारिवारिक गतिविधियों का आकलन अलग से किया जाना चाहिए। ऐसा करते ही मातृत्व का अनुभव उसके जैविक दायरे से निकल कर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता में प्रकट होने लगता है। वेश्या का मातृत्व, गृहिणी का मातृत्व, एक परम्परानिष्ठ स्त्री का मातृत्व, एक आधुनिक कामकाजी स्त्री का मातृत्व, समलैंगिक स्त्री का मातृत्व और गोद से बच्चा छिन जाने वाली स्त्री का मातृत्व एक ही श्रेणी में डाले जाने वाली चीज़ नहीं रह जाता। मातृत्व के मैटानैरेटिव का यह विखण्डन नारीवादी तात्त्विकतावाद की प्रभावकारिता को कमज़ोर कर देता है।[35] आद्रियाने रिच ने नारीवाद की इसी समस्या का सूत्रीकरण करते हुए कहा था कि 'पालक' की भूमिका स्त्री पर उसकी एक विशेष ख़ूबी के तौर पर सरलीकृत ढंग से चस्पाँ कर देना ख़तरनाक है। रिच कहती हैं कि पुरुष की बलात्कारी और योद्धा मानसिकता का प्रतिकार करने के लिए मातृमूलक ख़ूबियों पर ज़ोर देना अलग बात है, लेकिन यह तुलना उस समय तक बोझ बनी रहेगी जब तक स्त्री के इस सर्वाधिक उदार और संवेदनशील आयाम को ही एक लीवर की तरह इस्तेमाल करके उसे नियंत्रित किया जाता रहेगा।[36] हर तात्त्विकतावादी विदुषी को यह तर्क पता है। 'सारी औरतें माँ और सारे मर्द बच्चे' जैसा सूत्रीकरण करने वाली अनामिका भी उनसे अलग नहीं हैं। इसीलिए वे अपने उपन्यास में तरह-तरह से स्त्री का मातृमूलक पक्ष उभार कर ही नहीं रह जातीं। कुछ जगहों पर वे उसकी रणनीतिक अनिवार्यताओं को सामने लाती हैं, और कुछ जगहों पर बच्चों के प्रति ममता के प्रश्न को उस स्नेह और देखभाल की भरपाई के रूप में पेश करती हैं जो आमतौर से स्त्री को नहीं मिलता।

चूँकि उपन्यास की स्त्रियाँ अपने तिक्त अनुभवों की रोशनी में पुरुषों की दुनिया को माँ की तरह ही देख पाने के लिए अभिशप्त हैं, इसलिए ज़ाहिर है कि 'पटरी से उतरी हुई औरतें' अपना यूटोपिया कल्पित करते समय उसमें पुरुषों की भूमिका न के बराबर ही रखती हैं :

> शारदा सदन के आँगन से बालविधवाओं, युवा परित्यक्ताओं, वृद्ध वेश्याओं, उपेक्षित माताओं, पत्नियों, बहिनों, बेटियों और उन समस्त स्त्रियों के सम्मिलित कहकहों की मस्त-मगन आवाज़ गूँज रही थी जो अभी कुछ दिन पहले ही बोझ की तरह जीवन कंधे पर लादे हुए वहाँ आयी थीं या लायी गयी थीं। सहकारिता, स्वावलम्बन, आत्मविश्वास और बृहत्तर जीवन का सम्मिलित सपना देखते ही देखते इनका कायाकल्प ही कर गया था। यह औरतों का समृद्ध-समरस संसार था। मर्द जहाँ आनी-जानी माया भर थे। ... जीवन का बोझ उतार कर शारदा सदन आयी ये औरतें किस

---

[35] तात्त्विकतावाद और सामाजिक रचनावाद के बीच पॉलिमिक्स और मातृत्व के प्रश्न सबंधी विस्तृत चर्चा के लिए देखें, पैट्रिस डिकिंज़ियो (1993), 'एक्सक्स्यूज़न एण्ड इसेंशियलिज़म इन फ़ेमिनिस्ट थियरी : द प्रॉब्लम ऑफ़ मदरिंग', *हायपैतिया,* खण्ड 8, अंक 3, ग्रीष्म : 1-20.

[36] आद्रियाने रिच (1976), *ऑफ़ वुमॅन बोर्न : मदरहुड ऐज़ एक्सपीरिएंस एण्ड इंस्टीट्यूशन,* नॉर्टन, न्यूयार्क.

> क़दर ख़ुश रहती हैं। मज़ाक में कानन शारदा सदन को ओल्ड गर्ल्स फ़न सेंटर कहती थी। ... क्या ख़ूब बोलती थीं रमाबाई— एक बार 'थेरी गाथाओं' से कुछ हमें पढ़ कर सुनाया। कुछ स्मृतियाँ अब तक मन के किस मोखे पर मणिदीप सी प्रज्ज्वलित हैं।[37]

रमाबाई अपने यूटोपिया का एक संस्थागत रूप बनाने में सफल रही थीं, क्योंकि वे समाज सुधार की सांस्कृतिक राजनीति करती थीं। लेकिन अवंतिका देवी, तारा और शीरीन के ज़माने में राजनीति बदल चुकी है। इसलिए अनामिका इस यूटोपिया की व्यावहारिक ज़मीन बनाने के लिए एक सात सूत्रीय घोषणापत्र पेश करती हैं जिसका प्रमुख कार्यक्रम है विवाह की उम्र की तरफ़ बढ़ रहे युवाओं के प्रशिक्षण का।[38] इंजीनियरिंग, डॉक्टरी और मैनेजरी की ट्रेनिंग तो ख़ूब दी जाती है, पर नारीवादी यूटोपिया को ऐसे नागरिकों की ज़रूरत है जो 'समृद्ध और समरस' लैंगिक संसार के सदस्य बन सकें। जब तक इस घोषणापत्र पर राष्ट्र और समाज द्वारा बाक़ायदा अमल नहीं होता, तब तक स्त्री के लिए 'न उजाला है, न अँधेरा। न दिन, न रात।' उसकी गोदी में सिर रखे उसका रक़ीब गहरी नींद सोया रहेगा। उसे उम्मीद है कि उसका स्टेशन कभी न कभी तो आयेगा।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2007), 'नारीवाद की हिंदी-कथा : हमारे युग की दो नायिकाएँ', *तद्भव,* 16.

—— (2008 क), *दस द्वारे का पींजरा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

—— (2008 ख), *तिनका तिनके पास,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

—— (2009), 'ये मेरे दो उपन्यास', *अन्यथा,* अंक 15.

अमिता मिश्र (2008), 'रचनात्मकता में नया', *इंडिया टुडे,* 31 दिसम्बर.

अमिताभ राय (2009), 'स्त्रीवादी चिंतन से प्रेरित उपन्यास', *समीक्षा.*

आद्रियाने रिच (1976), *ऑफ़ वूमॅन बोर्न : मदरहुड ऐज़ एक्सपीरिएंस एण्ड इंस्टीट्यूशन,* नॉर्टन, न्यूयार्क.

उमा चक्रवर्ती (1998), *रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ़ एण्ड टाइम्स ऑफ़ पंडिता रमाबाई,* काली फॉर वुमॅन प्रेस, नयी दिल्ली.

एलिज़ाबेथ स्तारसेविच (1987), 'रप्चराज़ : एक फ़ेमिनिस्ट नॉवेल', *अनाल्स द ला लितरेत्योरा एस्पानोला कंते पोरेनिया,* खण्ड 12, अंक 1/2, रीडिंग फॉर डिफरेंस : फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन वुमॅन नॉवेलिस्ट्स ऑफ़ कंटेम्परेरी स्पेन.

कैथरीन आर. स्टिम्पसन (1983), *द मेसाचुसेट्स रिव्यू,* खण्ड 24, अंक 2, वुमॅन : द आर्ट्स 2, ग्रीष्म.

गेल ऑम्बेड्ट (2000), 'टुवर्ड्स अ थियरी ऑफ़ ब्राह्मनिक पैट्रियार्की', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 35, अंक 4.

जसोधरा बाग़ची (2001), 'जेंडरिंग ऑफ़ द नॉवेल', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 36, अंक 22.

जान जिंडी पैटमेन (1998), 'नैशनलिज़म एण्ड आफ़्टर', *रिव्यू ऑफ़ इंटरनैशनल स्टडीज़,* खण्ड 24, द एट्टी इयर्स क्राइसिस 1919–1999.

टाइम्स ऑफ़ इंडिया (2010), सम्पादकीय : 'लैंग्वेज मैटर्स / जेंडर न्यूट्रल पब्लिक वोक्युबलिरी नीडिड', मुंबई.

नामवर सिंह (2009), 'स्त्री मुक्ति के नये आयाम', *द पब्लिक एजेंडा.*

---

[37] अनामिका (2008 क): 269–70.

[38] अनामिका (2008 ख): 295–301.

परमानंद श्रीवास्तव (2008), 'स्मृति, इतिहास और आख्यान', *तद्भव,* 18.

पैट्रिस डिकिंज़ियो (1993), 'एक्सक्स्यूज़न एण्ड इसेंशियलिज़म इन फ़ेमिनिस्ट थियरी : द प्रॉब्लम ऑफ़ मदरिंग', *हायपैतिया,* खण्ड 8, अंक 3, ग्रीष्म.

पार्थ चटर्जी (1999), 'द नैशनलिस्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ़ वुमंस क्वेश्चन', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.), *रिकास्टिंग वुमॅन : एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री,* काली फॉर वुमॅन प्रेस.

मार्गरेट होमंस (1994), 'फ़ेमिनिस्ट फिक्शंस एण्ड फ़ेमिनिस्ट थियरीज़ ऑफ़ नैरेटिव', *नैरेटिव,* खण्ड 2, अंक 1.

मृणालिनी सिन्हा (2000), 'रिफेशनिंग मदर इंडिया : फ़ेमिनिज़म एण्ड नैशनलिज़म इन लेट-कोलोनियल इंडिया', *फ़ेमिनिस्ट स्टडीज़,* खण्ड 26, अंक 3, पॉइंट्स ऑफ़ डिपार्चर : इंडिया एण्ड साउथ एशियन डायस्पोरा, हेमंत.

मीनाक्षी मुखर्जी 91984), 'रियलिटी एण्ड रियलिज़म : इंडियन वुमॅन ऐज़ प्रोटेगनिस्ट्स इन फोर नाइंटींथ सेंचुरी नॉवेल्स', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 19, अंक 2.

मीरा कोसाम्बी (1988), 'वुमॅन, इमेंसिपेशन एण्ड ईक्वलिटी : पंडिता रमाबाईज़ कंट्रब्यूशन टु वुमंस कॉज़', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 23, अंक 44, 29 अक्टूबर.

रंजू सियोदू हेर (2003), 'द पॉसिबिलिटी ऑफ़ नैशनलिस्ट फ़ेमिनिज़म', *हायपैतिया,* खण्ड 18, अंक 3 (हेमंत).

राजकिशोर (2010), 'नारीवाद का पहला उपन्यास', *जनसत्ता,* 10 जनवरी, नयी दिल्ली.

सूज़न गुबर (1998), 'व्हाट एल्स फ़ेमिनिस्ट क्रिटिसिज़म ?', *क्रिटिकल इनक्वैरी,* खण्ड 24, अंक 4, ग्रीष्म.